इकाई-१

रस सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा :

१.० इकाई का उद्देश्य
१.१ प्रस्तावना
१.२ रस की अवधारणा
१.३ रस का स्वरूप
१.४ रस के अव्यय
१.५ रस सिद्धांत
१.६ साधारणीकरण
१.७ साधारणीकरण की अवधारणा
१.८ सारांश
१.९ लघुत्तरीय प्रश्न
१.१० बोध प्रश्न
१.११ संदर्भ पुस्तकें

१.० इकाई का उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थी निम्नलिखित मुद्दों से परिचित हो सकेंगे।

i) रस की अवधारणा
ii) रस का स्वरूप
iii) रस के विभिन्न अंग
iv) रस विषयी विभिन्न आचार्यो के मत
v) साधारणीकरण की अवधारणा
vi) साधारणीकरण विषयी विभिन्न आचार्यों के मत

१.१ प्रस्तावना

इस इकाई में विद्यार्थी 'रस' की उत्पत्ति, अर्थ, स्वरूप और रस के विभिन्न अव्यय का अध्ययन करेंगे। इस विषय में विभिन्न विद्वानों द्वारा दिए गए सिद्धांतो के अध्ययन के साथ साधारणीकरण और साधारणीकरण संबंधी विभिन्न भारतीय आचार्यों के मतों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

munotes.in

१.२ रस की अवधारणा :

भारतीय संस्कृत साहित्य में रस शब्द की व्युत्पति इस प्रकार दी गई है 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः', अर्थात जिसका आस्वादन किया जा सके वह रस है। रस के लिए यह भी कहा गया है 'रसते इति रसः' अर्थात जो 'बहे' वह रस है। इस प्रकार रस की दो विशेषताएँ दिखती है। 'आस्वाद्यते' एवं 'द्रवत्व'। हमारे आदि ग्रंथ वेद, उपनिषद और पुराणों में रस शब्द का प्रयोग व्यावहारिक जीवन के लिए मिलता है। काव्यानन्द के अर्थ में नहीं। तैतरीयोपनिषद के अनुसार रस का अर्थ ब्रह्म के अर्थ में है। वनस्पति शास्त्रों के अनुसार जिसका आस्वाद हो उसे रस कह सकते है। अर्थात जिससे हमें आनन्द की प्राप्ति होती है वही रस है। आर्यों को सोमरस अति प्रिय था, इस कारण रस सोम रस का पर्यायवाची बन गया। अतः इसके बाद रस के लिए शक्ति, मद और आस्वाद का समावेश हो गया और आल्हाद का अर्थ आत्यानन्द में बदल गया।

१.३ रस शब्द का अर्थ एवं स्वरूप

भारतीय जीवन में रस शब्द का प्रयोग सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के लिए होता है, जैसे पदार्थों का रस, फलों का रस आदि। मीठा, खट्टा, कसैला, तीखा, कडवा, नमकीन ये षडरस है। आयुर्वेद में भी सुवर्ण, रजत, शंख रस आदि है। साहित्य में भी रस शब्द का प्रयोग होता है। ग्रंथों के पठन-पाठन से जो आनन्द मिलता है उसे रस की संज्ञा दी गई है।

भरतमुनि ने नाटक के संदर्भ में प्राप्त होने वाले आनन्द को लेकर 'नाट्यशास्त्र में सांगोपांग विवेचन किया है। रस संबंधी मान्यताएं और भरतमुनि के कारण ही रस सूत्र की चर्चा हुई। भरतमुनि ही पहले आचार्य थे जिन्होंने रस का विवेचन वैज्ञानिक दृष्टि से किया है।'

"विभावनुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पति।"

रस भी अन्य पदार्थो के समान आस्वाद्य है। जैसे कोई व्यक्ति स्वादिष्ट खाने को खाकर रस का आनन्द लेता है। उसी प्रकार रचनाओं का पढ़कर हर्षादि का अनुभव करता है। इसमें वह नाना भावों तथा वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनयों से सम्बंधित स्थायी भावों को दर्शाता है।

१.४ रस के अव्यय :

रस के चार मुख्य अव्यय है।

१) स्थायी भाव : जो भाव वासनात्मक होकर चित्त में चिरकाल तक अचंचल रहता है, उसे स्थायी भाव कहते है। दूसरे शब्दों में आश्रय के ह्रदय सुप्तावस्था में सदैव विद्यमान रहता है। स्थायी भाव ही रस दशा को प्राप्त होते है। आचार्य विश्वनाथ ने स्थायी भाव को रस का मूल कहा है। स्थायी भाव जन्मजात से सभी प्राणियों में विद्यमान वासनारूप में होते है। मिट्टी का स्थायी भाव गंध है। स्थायी भाव नौ प्रकार के है - रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, आश्चर्य और निर्वेद ये नौ है। ये ही परिपुष्ट होकर क्रमशः श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त में बदल जाते है।

२) विभाव : स्थायी भावों के उद्‌बोधक कारण को विभाव कहते है। सामाजिक के ह्रदय में संस्कार रूप में स्थित भाव को जागृत करने वाले कारण रूप व्यक्ति, वस्तु अथवा बाहरी विकार के विभाव कहते है। विभाव के दो कार्य हैं पहला ये भावों को जागृत करते है, दूसरा ये भावों को उद्‌दीप्त करते है। इस कारण विभाव के दो भेद हैं (क) आलम्बन विभाग (ख) उद्‌दीपन विभाव। आलम्बन विभाव जैसे नायक - नायिका आदि जिनके कारण इति आदि भाव उत्पन्न हो। उद्‌दीपन का अर्थ है। तेज करना, बढ़ाना। अर्थात जो इति आदि भाव को उद्‌दीप्त करते है - जैसे श्रृंगार रस में उद्यान, चाँदनी, षडऋतु आदि उद्‌दीपन है।

अनुभाव :

मनोगत भाव को व्यक्त करने वाली देहिक क्रिया अनुभाव कहलाती है। अनुभाव शब्द अनुभव से बना है। अनु का अर्थ है पीछे आने वाला। सुन्दरी शकुन्तला (आलम्बन) द्वारा दुष्यन्त (आश्रय) के मन में इति (स्थायी भाव) का जगना और उद्‌दीपन खिला उद्यान, एकांत के द्वारा दुष्यन्त का हाथ पकडना, रोमांचित होना आदि शरीर के लक्षण (अनुभाव) इति का कार्यरूप है।

इस प्रकार आलम्बन उद्यान आदि अपने-अपने कारणों से उत्पन्न भावों को व्यक्त करने वाले लोक में जो-जो कार्यरूप चेष्टाएं होती है, वे काव्य-नाटकादि से जुड़कर अनुभाव कहलाती है। अनुभाव चार प्रकार के होते है (१) कथिक (२) याचिक (३) आहार्य (४) सात्विक

व्यभिचारी :

ह्रदय में नित्य विद्यमान रहने वाले भावों को स्थायी भाव कहते हैं। कुछ भाव ऐसे भी होते है, जो अस्थिर, अस्थायी अर्थात्‌ संचरणशील होते है। उन्हें व्यभिचारी या संचारी भाव कहते हैं। स्थायी भावों को पुष्ट करने के लिए निमित या सहायक कारण रूप में आल्पकालिक भाव संचारी भाव कहलाते हैं। रसों के स्थायी भाव निश्चित होते है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। जैसे श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति है। किंतु संचारी के संबंध में ऐसा कोई नियम नही हैं। एक ही संचारी भाव अनेक रसों में हो सकता है। जैसे चिंता संचारी भाव, श्रृंगार, वीर, करुण संचारी भावों की संख्या तैंतीस मानी गयी है। अतः भाव आलम्बन या उद्‌दीपन रूप से उद्‌धृत होते है। व्यभिचारी भाव ३३ है - निर्वेद, आवेग, ग्लानि, शंका, दैन्य, श्रम, मद जड़ता, उग्रता, अमर्ष, मोह, उन्माद, असूया, चिन्ता, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, व्याधि, आलस्य, हर्ष, गर्व, धृति, मति, चापल्य, ब्रीड़ा, अवहित्य, स्वप्न, विबोध, अपस्मार, स्मृति, त्रास, वितर्क, मरण आदि।

१.५ रस सिद्धान्त :

वास्तव में रस सिद्धान्त की आधारशिला भरत मुनि का यह सूत्र है - "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पति" है।

इसी सूत्र पर रस सिद्धान्त की भव्य इमारत खड़ी हुई है। भरत का रस सूत्र रस परिभाषा एवं रस सिद्धान्त का बोधक भी है। भरत मुनि जी का कहना है जिस प्रकार नाना व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से रस की, निष्पति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों से पाडवादि रस बनते है। उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी इसी रूप

को प्राप्त होते है जो हर्षादि से प्राप्त होते हैं। रस सिद्धान्त संबंधी विभिन्न आचार्यों ने इस प्रकार अपना मत व्यक्त किया।

१) भट्ट लोलट :

भरत मुनि के रस सूत्र के प्रथम व्याख्याकार है। इनका कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं है, किंतु अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती और ध्वन्यालोक लोचन एवं मम्मट ने काव्य प्रकाश में इनके मतों को उल्लेखित किया है। ये उद्धरण बहुत छोटे हैं किंतु रस संबंधी उनकी धारणाएं स्पष्ट हो जाती हैं। इनके मत को आरोपवाद या उत्पत्तिवाद के नाम से जाना जाता है। क्यों कि लोलट का स्पष्ट मत है कि विभावों आदि कारणों से उत्पन्न रति आदि स्थायी भाव अनुभावों से प्रतीति योग्य होकर संचारियों के सहयोग से परिपुष्ट होते हैं और मुख्य चरित्र रसादि के रूप के अनुकार्य और उसके स्वरूप के अनुसंधान से नट में प्रतीयमान स्थायी भाव ही रस है। इनकी दृष्टि से रस की उत्पत्ति के तीन प्रकार है कारण, कार्य एवं सहकारी कारण हैं। वे रस की उत्पत्ति रामादि मुख्य पात्रों के अनुकार्य (नट) में मानते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विभाव रति आदि भावों के उत्पादक कारण है। इससे रस के साथ विभाव का उत्पाद्य उत्पादक संबंध दृष्टि गोचर होता है। अनुभाव रस की प्रतीति में सहयोगी होते है। क्योंकि मुख्य पात्र या ऐतिहासिक पात्र रामादि के अनुकार्य द्वारा नट शारीरिक एवं मानसिक चेष्टाओं से रस की प्रतीति करता है। रस के अनुभावों का गम्य - गम्यक संबंध प्रकट होता है और संचारियों से रति आदि प्रकट होते है। रस से इसका पोष्य पोषक संबंध सिद्ध होता है। इसी प्रकार संयोग शब्द की तरह निष्पति के तीन अर्थ है - उत्पत्ति, प्रतीति एवं पुष्टि। अर्थात विभाव के साथ रति आदि स्थायी भावों का उत्पाद्य - उत्पादक संबंध होने पर रस की उत्पत्ति होती है। अनुभावों के साथ रति आदि का गम्य-गम्यक संबंध होने से रस की प्रतीति होती है और व्यभिचारी भावों के साथ रति आदि का पोष्य - पोषक संबंध से रस पुष्ट होता है।

वस्तुतः भरत के रस सूत्र की व्याख्या करते हुए भट्ट लोल्लट ने कतिपय नूतन उद्भावनाएँ की है, क्योंकि आचार्य भरत रस विवेचन में विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के साथ रस का संबंध स्पष्ट नहीं कर पाए थे। इसी कमी के कारण इसके अतिरिक्त इन्होंने रामादि पात्रों के तद्रूप अनुकार्य नट में अवस्थिति मानकर ऐतिहासिक पात्रों को महत्त्व प्रदान किया है। इसके साथ ही अनुकरण की महत्ता का प्रतिपादन किया है। जो अभिनय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण गुण माना।

२) श्री शंकुक : रस सूत्र के द्वितीय व्याख्याता आचार्य शंकुक है। भट्ट लोल्लट की भाँति श्री शंकुक का कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। किंतु अभिनव भारती और ध्वन्यालोचन एवं मम्मट के काव्य प्रकाश में शंकुक के मत उल्लेखित है।

इन ग्रंथों में उल्लेखित शंकुक के उद्धरणों में भरत के रस सूत्र की व्याख्या हो जाती है। इनके अनुसार कारण रूप, विभावों, कार्य रूप अनुभावों एवं सहकारी रूप व्यभिचारी भावों से प्रयत्नजन्य ऐतिहासिक पात्रों में स्थित स्थायी भाव के अनुकरण द्वारा अनुकर्ता नट में प्रतीत होने वाला रस कहलाता है। वस्तुतः शंकुक रति आदि स्थायी भावों को बाधित करता है।

श्री शंकुक की दृष्टि में अनुकर्ता में स्थायी भाव नहीं होता है, क्योंकि अनुभावादि के समान वह स्थायी भाव का अभिनय नहीं कर सकता किंतु नट के सफल अभिनय द्वारा सामाजिक स्थायी भाव का अनुमान कर लेता है। यद्यपि अनुमान का आधार कृत्रिम होता है, लेकिन समाज के मन में विद्यमान वासना रूप संस्कारों से स्थायी भाव का अनुमान रस बन जाता है। श्री शंकुक की दृष्टि में नट में स्थायी भाव का अनुमान का ज्ञान न तो सम्यक प्रतीति है, न मिथ्या प्रतीति, न संशय प्रतीति, नहीं सादृश्य प्रतीति है, अपितु वह एक विलक्षण प्रतीति है, जिसे चित्रतुरंगादिन्याय से अनुकर्ता नट में मूल पात्रों की प्रतीति होती है। फलतः सामाजिक अनुकर्ता नट में मूल पात्र रसास्वादन के पूर्व की प्रक्रिया मानते है। उनकी दृष्टि में काव्य में निबद्ध विभावादि का सर्व प्रथम साधारणीकरण होता है और विभावादि का साधारणीकृत रूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव रूप रस सब के उद्रेक के प्रकाश और आनंदमय ब्रस्मास्वाद के समान भोग, से आस्वादित होता है। इस प्रकार भट्ट नायक के मतो से निष्कर्ष निकलता है कि साधारणीकरण रसास्वादन के पूर्व से वह प्रक्रिया है जिसके प्रभाव से रस को विभावादि सामग्री विशिष्ट अथवा लौकिक रूप का परित्याग करते हुए आस्वाद्य रूप को धारण करती है। इस कारण लौकिक जीवन में सुख-दुःखात्मक अनुभूति कराने वाले विभावादि सुखात्मक हो जाते है।

रस सूत्र के व्याख्याकार, अभिनव गुप्त ने भट्ट नायक के इस मत का संशोधन करके लिखा है - "काव्यात्मक वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद वाक्य में गृहीत कालादि विभाग की उपेक्षा (साधारणीकरण) करने वाली मानसी एवं साक्षात्कारात्मिका प्रतीति उत्पन्न होती है।" उस प्रतिति में हिरण आदि (आश्रय) के विशेष रूप न होने से (साधारणीकरण) त्रासक दुष्यन्त (विषय) के वास्तविक न होने से भय (स्थायी भाव) देशकाल से मुक्त होकर यह भीत है, मैं भीत हूँ, यह शत्रु है, मित्र या मध्यस्थ है... विघ्न बहुल ज्ञानों से भिन्न प्रतीति से भय स्थायी भाव रूप रस ह्रदय में प्रविष्ट होता है। और आँखों के सामने घूमता है। इसी प्रकार अन्य रस भी होते है।

वस्तुतः अभिनव गुप्त की दृष्टि में सर्वप्रथम आलम्बन विभाव (आश्रलम्बन और विषयालम्बन) का साधारणीकरण होता है। उसके बाद नायक नायिकाओं की चेष्टाएँ, रूप, बोली के रस विवेचन विषयक मतों का अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती और ध्वन्यालोचन तथा मम्मट ने काव्य प्रकाश में उल्लेख किया है। इन ग्रंथों में उल्लेखित भट्टनायक के मतों से स्पष्ट होता है कि उन्होंने सर्वप्रथम पूर्ववर्ती रस के व्याख्याकारों के मतों का खण्डन करते हुए भरत मुनि के रस निष्पति को मुक्ति या भोगवाद और संयोगात् को भोज्य - भोजक स्वीकार किया है। उनका स्पष्ट मत है कि रस न तो प्रतीत होता है न उत्पन्न होता है और न ही अभिव्यक्त होता है।

भट्ट नायक रस को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि रस की तटस्थ (नटगत या अनुकार्य रूप से) स्वगत रूप से प्रतीति, उत्पत्ति या अभिव्यक्ति नहीं होती है। बल्कि काव्य और नाटक में अभिधा से द्वितीय विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व नाम व्यापार से भाव्यमान (साधारणीकृत) स्थायी भाव, सत्त्व के उद्रेक के प्रकाश और आनंदमय ब्रह्मास्वाद के समान भोग अथवा भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है।

वस्तुतः भारतीय काव्यशास्त्र में भट्टनायक का रस विवेचन (युक्तिवाद) कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उनके रस विवेचन की सर्वाधिक उपलब्धि काव्य निबद्ध पात्रों के विभावादि काव्य उपकरणों की साधारणीकृत भाव की कल्पना है, क्योंकि भट्ट नायक ने सर्वप्रथम साधारणीकरण

व्यापार के द्वारा नाटक एवं काव्य में कवि निबद्ध पात्रों के विभावादि भावों का सह्रदय पाठक तक सम्प्रेषित होने की कल्पना की थी जो निश्चित ही भारतीय काव्यशास्त्र की महत्त्वपूर्ण सिद्धि है। इतना ही नही इन्होंने ही सर्वप्रथम साधारणीकरण के द्वारा करुण आदि रसों की आनंदरूपता का प्रबल समर्थन किया था। जिस कारण भारतीय काव्यशास्त्र में लौकिक सुख-दुखात्मक रति आदि भावों में अलौकिकता का संधान होने लगा और रस के ब्रह्मानन्द तथा ब्रह्मास्वाद मानने की परंपरा चल पड़ी।

४) अभिनव गुप्त : ये रस सूत्र के प्रौढ व्याख्याता माने जाते है। इनके रस विषयक मत अभिनव भारती और ध्वन्यालोचन में विस्तार पूर्वक चर्चा मिलती है। काव्य प्रकाश में मम्मट ने इनके मतों का उल्लेख किया है। अभिनव गुप्त का रस मत अभिव्यक्तिवाद कहलाता है। भरत के संयोगात को व्यंग्य - व्यंजकत्व संबंध और निष्पति और अभिव्यक्ति मानते है। वे रस को व्यंग्य और विभावादि को व्यंजकत्व मानते हैं।

अभिनव गुप्त का मत है कि काव्यात्मक वाक्यार्थ से सह्रदय को सामान्य अर्थ का ज्ञान प्राप्त होता है, क्योंकि साधारण वाक्य की अपेक्षा काव्यात्मक वाक्य में कवि निबद्ध पात्र, देशकाल विभाग अर्थात पात्रों के विभावादि का साधारणीकरण होता है। इस कारण वाक्य साधारणीकृत होकर सह्रदय के लिए निर्विघ्न प्रतीति का कारण बनता है। इस प्रकार की प्रतीति से इति आदि स्थायी भाव रस रूप में सह्रदय ग्राह्य बनते है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सह्रदय इसी प्रतीति के द्वारा काव्यात्मक रस का आस्वादन करता है। अभिनव गुप्त नाटक और काव्य में निबद्ध, विभावादि का साधारणीकरण समष्टि रूप में मानते हैं। उनका मत है कि नाटक और काव्य में निबद्ध विभावादि के साधारणीकरण को नटादि सामग्री पोषित करती है। जिससे साधारणीकरण व्यापार अत्यंत पुष्ट हो जाता है। अभिनव गुप्त का मत है कि, अनादि संस्कारों द्वारा चित्रित चित्त वाले सारे सामाजिकों की एक जैसी वासना होने के कारण सभी सामाजिकों को काव्यात्मक वाक्य का साधारणीकृत रूप की प्रतीति समान रूप से होती है।

अभिनव गुप्त साधारणीकृत विघ्न रहित प्रतीति को चमत्कार मानते है। अंत वे आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव को रस और विभावादि को विघ्नों का उपासक मानते है।

अभिनव गुप्त का काव्यात्मक वाक्य कि साधारणीकृत निर्विघ्न रस प्रतीति को आस्वादन रूप में उत्पन्न मानते हैं। उनका मत है कि अभिधा से पृथक व्यंजन आत्मक ध्वनन व्यापार द्वारा सह्रदय निर्विघ्न प्रतीति रूप रस का आस्वादन करता है। इसलिए अभिनव गुप्त का मत है कि रस अभिव्यक्त होता है और प्रतीति के द्वारा आस्वादगोचर होता है। वस्तुतः अभिनव गुप्त का रस विवेचन सर्वाधिक प्रौढ और पुष्ट है। इसका रस विवेचन अत्यंत गंभीर और प्रामाणिक होने के कारण सर्वग्राह्य बन पड़ा है। देखा जाए तो इनके रस विवेचन के निष्कर्षो पर आधारित है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के रस विवेचन में आए दोषों का तर्क सम्मत समाधान प्रस्तुत करने के कारण इनका रस विवेचन सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

भरत का रस सूत्र के अन्य व्याख्याता आचार्यो में दश रूपककार धनंजय, महिमभट्ट, मम्मट, कविराज विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ का नाम उल्लेखनीय है। किंतु ये आचार्यं

भरत के रस सूत्र विवेचन में किसी भी प्रकार की मौलिकता नहीं दे पाए है। इन्होंने मात्र अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद का ही समर्थन किया है।

निष्कर्ष : सामन्यतः रस शब्द का प्रयोग पदार्थों का रस, तीखा, खट्टा, आयुर्वेद का रस, कसैला साहित्य का रस और भक्ति या मोक्ष आदि के लिए होता है।

जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनो और औषधियों से षाडवादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी इस रूप को प्राप्त होते है -

भारतीय काव्यशास्त्र में भट्ट नायक का रस विवेचन (युक्तिवाद) कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

१.६ साधारणीकरण :

भारतीय काव्यशास्त्र में रस अधिक उल्लेखनीय सिद्धान्त रहा है। सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में रस को ही साहित्य की आत्मा माना है। नाटकादि का सह्रदय से कैसे आनन्द प्राप्त करता है? इसका समाधान विद्वानों ने साधारणीकरण की परिकल्पना करके किया है। इसके द्वारा ही रसास्वादन होता है। इसलिए इस सिद्धान्त के साथ साथ साधारणीकरण का भी विवेचन होता रहा है।

१.७ साधारणीकरण की अवधारणा

साधारणीकरण के विषय में कई विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये है। जैसे संस्कृताचार्यो में भट्टनायक, अभिनव गुप्त, कविराज विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ का नाम उल्लेखनीय है। भरत के इस कथन को साधारणीकरण का बीज मानते हुए भरत का कथन है - "एभ्यश्च सामान्य गुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते" - नाट्यशास्त्र (अर्थात इन भावों को जब सामान्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है। तो रसों की निष्पति होती है।)

किंतु हमारी दृष्टि में भट्ट नायक ने ही अपने रस विवेचन में सर्वप्रथम 'साधारणीकरण' शब्द क प्रयोग किया। यही नहीं रसास्वादन (भोगवाद) प्रक्रिया के रूप में साधारणीकरण का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विवेचन किया था। उनका स्पष्ट मत है कि विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा भाष्यमान स्थायी भाव रूप रस... भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है।

भट्ट नायक के साधारणीकरण विषयक मतों से स्पष्ट होता है कि वे इसे रामादि में विद्यमान रति आदि स्थायी भावों का अनुमान लगाता है और आनंद की अनुभूति करता है। वस्तुतः श्री शंकुक ने भरत के निष्पति को अनुमति और संयोगात को अनुमाप्य - अनुमापक मानकर विभावादि को अनुमापक और रति आदि को अनुमाप्य माना है। इस निष्पति को अनुमिति मानने के कारण श्री शंकुक के रस विवेचन को अनुमितिवाद कहा जाता है। इस प्रकार श्री

शंकुक के इस विवेचन के विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि विभावादि का ऐतिहासिक पात्र (मूल पात्र) में विद्यमान इति आदि भावों के अनुकरण से नट में सामाजिक स्थायी भाव रूप का अनुमान करता है।

भट्ट लोल्लट के उत्पति वाद की भांति श्री शंकुक का अनुमितिवाद भी सर्वग्राह्यम नहीं हो सका, क्योंकि शंकुक का मत अनुमान पर आधारित है। जबकि अनुमान बुद्धि का विषय है और रस ह्रदय का विषय है। ऐसी दशा में बुद्धि का विषय अनुमान आनंद की अनुभूति कैसे करा सकता है? जबकि अनुमान तो ज्ञान प्रदान करता है। इतना ही नही इन्होंने भट्ट लोल्लट और भरत की भाँति रस विवेचन में अभिनय को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। जबकि नाट्य के अतिरिक्त काव्य में भी विविध रसों की स्थिति बराबर बनी रहती है। इसके अतिरिक्त श्री शंकुक ने विभावादि रस के उपकरणों से इति आदि का अनुमापक - अनुमाप्य संबंध माना है।

३) भट्ट नायक : भरत के रस सूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्ट नायक है। रस के पहले आचार्यों की भाँति भट्ट नायक का कोई स्वतंत्र ग्रंथ प्राप्त नहीं होता। भट्ट नायक देशकाल, उद्यान, चंद्रोदय और पर्वत आदि उद्दीपन विभाव बंधनमुक्त होकर साधारणीकृत हो जाते हैं। फलतः लौकिक इति आदि स्थायी भाव सुख दुखात्मक चेतना से मुक्त होकर अलौकिक हो जाते हैं। और यही चेतना तो रस है। जो सह्रदयों के ह्रदय में प्रविष्ट कर जाता है।

अभिनव गुप्त का मत है कि काव्य तथा नाटक के साधारणीकृत रूप को नयदि सामग्री साक्षात्कारात्मक रूप से पोषित करती है - फलतः काव्य में वर्णित देशकाल से प्रमाणित व्यक्ति संसर्ग अथवा बंधनों से मुक्त होकर साधारणीकरण व्यापार की पुष्टि करते है। इसलिए सभी सामाजिकों की एक समान प्रतीति होती है। क्योंकि सामाजिक का चित्र आदि संस्कारों द्वारा चित्रित होने के कारण प्रत्येक की वासना एक जैसी होती है। इसलिए आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न (साधारणीकृत) प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है।

वस्तुतः अभिनव गुप्त के साधारणीकरण विवेचन से स्पष्ट होता है कि साधारणीकरण रसास्वादन के पूर्व की प्रक्रिया है। यह साधारणीकरण वैयक्तिक क्रिया न होकर सामूहिक क्रिया है। परिणाम स्वरूप हर सामाजिक को कारण रूप विभावादि और कार्यरूप इति आदि (रस) भावों की समान प्रतीति होती है। अतः साधारणीकरण का सार-स्थायी भाव का साधारणीकरण है।

संस्कृत के अधिकांश परवर्ती आचार्यो ने अभिनव गुप्त के द्वारा विवेचित साधारणीकरण को स्वीकृति प्रदान की है। विश्वनाथ का मत है कि काव्य नाट्य में वर्णित विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों में साधारणीकरण की अलौकिक शक्ति होती है। इसी शक्ति द्वारा सामाजिक वैयक्तिक सीमाओं से परे स्वयं को रामादि नायक से अभिन्न जानने लगता है। फलतः सामाजिक के ह्रदय को समादि के वीरकर्मी का, स्थायीभाव उद्भव हो जाता है।

निष्कर्षतः कह सकते है विश्वनाथ नाट्य एवं काव्य में निबद्ध रामादि के साथ सामाजिक का तादात्मय को साधारणीकरण मानते हैं। इसलिए सर्वप्रथम साधारणीकरण के व्यापार का प्रभाव सामाजिको के कारण रूप विभावादि पर पढ़ता है और सामाजिक नाट्य से

काव्य में चित्रित रामादि के समुद्र लेखनादि कार्यो को न उनसे भिन्न, न रामादि नायक के, न बेटे और न मेरे से भिन्न मानते है।

पंडित जगन्नाथ के अनुसार दुष्यंत आदि पात्रों के साथ सामाजिकों की अभिन्नता अथवा तादात्म्य के अतिरिक्त भावना दोष को साधारणीकरण मानते है। उनका मत है कि काव्य और नाटक में कवि और नट के द्वारा विभाव, अनुभाव से संचारी भाव प्रकाशित होते है। फिर व्यंजना व्यापार के द्वारा दुष्यंत को शकुंतला के प्रति आसक्ति की प्रतीति होती है। फिर व्यंजना व्यापार के द्वारा दुष्यंत की शकुंतला के प्रति आसक्ति की प्रतीति होती है। हम सह्रदयता के कारण दुष्यंतादि के विषय में पुनः पुनः अनुसंधान करते है और भावना दोष के कारण हमारी आत्माकल्पित दुष्यतांति ही से आच्छादित हो जाती है। फलतः उसी प्रकार भावना दोष के कारण कल्पित दुष्यंतादि से आद्यन्त आत्मा में कल्पित शकुंतला विषयक रति भी भासित होने लगती है। जिस प्रकार करत्व दोष के कारण सीप के टुकडे चांदी के टुकडे प्रतीत होने लगते है।

रामचंद्र शुक्ल का मत :

हिंदी काव्यशास्त्र में हिंदी आचार्यो में रामचंद्र शुक्ल, गुलाबराय और डॉ. नगेन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आचार्य शुक्ल साधारणीकरण को परिभाषित करते हुए लिखते है - जब किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता है कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रस उद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रुप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण है। क्योंकि आचार्य शुक्ल काव्य निबद्ध भावों को पाठक एवं श्रोतानिष्ठ न मानकर मानव मात्र को भावात्मक सत्ता के प्रतिनिधि मानते है। फलतः काव्य में अभिव्यक्त रति आदि भावों की प्रतीति सामाजिक को एक समान होती है। इसलिए वे सच्चा कवि उसे मानते हैं जिसको लोक ह्रदय की सच्ची पहचान हो। आचार्य शुक्ल कवि के लोक ह्रदय में लीन होने की दशा को रस दशा मानते है। आचार्य शुक्ल के अनुसार - काव्य का विषय सदा विशेष होता है। सामान्य नहीं, वह व्यक्ति को सामने लाता है जाति को नहीं और वे साधारणीकरण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते है। साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष होता है, वह जैसे काव्य में वर्णित भाव का आलम्बन होता है, वैसे ही सब सह्रदय पाठक या श्रोताओं के भाव आलम्बन हो जाता है। शुक्ल की दृष्टि में काव्य में चित्रित व्यक्ति विशेष का कवि कल्पनाबिम्ब अथवा मूर्तभावना उपस्थित करता है। फलतः साधारणीकरण आलम्बन के धर्म का होता है। उनका स्पष्ट मत है - कल्पना में मूर्ति विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बन धर्म का होना है जो व्यक्ति विशेष में रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से श्रोताओं या पाठक के मन में एक ही प्रकार का ह्रदय कम या अधिक होता है।

गुलाबरायजी का मत :

शुक्ल जी के बाद गुलाबराय जी ने लिखा है - साधारणीकरण व्यक्ति का नही वरन् उनसे संबंधो का होता है। कवि भी अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर साधारणीकरण हो जाता है। वह लोकप्रतिनिधि होकर भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बंधनों को तोड़कर लोक सामान्य की भाव - भूमि में समा जाता है। उसका ह्रदय कवि और लोक ह्रदय के साथ प्रतिस्पंदित होने लगता है। भावों का

साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनसे भी 'अयं निःजळ परोवा' की भावना जाती रहती है। इतना ही नहीं गुलाबराय जी विश्वनाथ की तरह भाष्य में अभिव्यक्त भावों के साथ पाठक, या सामाजिक के तादात्म्य को भी स्वीकार करते है।

आचार्य नगेन्द्र का मत :

आचार्य नगेन्द्र ने पाश्चात्य मतों के प्रकाश में अपना मत रखा है। आपकी दृष्टि में साधारणीकरण आश्रय के साथ प्रमाता अथवा पाठक का तादात्म्य है। न कि साधारणीकरण आलम्बन का होता है व आलम्बन के धर्म का न सह्रदय की चेतना का न ही सर्वांग का बल्कि नगेंद्र कहते है कि कवि के भाव कवि की अनुभूति, सामान्य अनुभूति से सर्जनात्मक अनुभूति भाव की कल्पनात्मक पुनः सर्जना की अनुभूति भारतीय काव्य शास्त्र की शब्दावली में भावना है। इसी का शास्त्रीय नाम ध्वन्यार्थ है। जो एक और कवि के काव्य का अर्थ व्यक्त करती है और दूसरी और प्रमाता के चित्त में समान अर्थ को उद्‌बुद्ध करता है। काव्य का द्वि प्रसंग इसी का मूर्त रूप या बिंब है। काव्य प्रसंग और कुछ नहीं कवि की भावना के बिंब का नाम है। साधारणीकरण कवि की भावना के अनुकूल मानते हैं रस के सभी अव्ययों की अपेक्षा और... साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है। ... कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके।

अतः नगेंद्र की दृष्टि में साधारणीकरण भाषा या काव्य भाषा का धर्म है। साधारणीकरण का मूलाधार मानव सुलभ सहानुभूति है जो सभी मनुष्यों के ह्रदय में एक साथ अनुस्युत है।

१.८ सारांश :

भारतीय काव्यशास्त्र में रस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त रहा है। कारण यह है कि काव्य समीक्षा का मुख्य मापदण्ड रस ही है। विभिन्न भाषाओं के काव्य शास्त्रीय विद्वानों ने रस को ही महत्व दिया है।

साधारणीकरण का विवेचन करने वाले आचार्यों में भट्‌ट नायक, अभिनव गुप्त, कवि राज विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ का नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय है। अभिनव गुप्त साधारणीकरण सीमित न होकर सर्वव्यापक होता है और काव्य एवं नाटक के साधारणीकरण रूप को नयदि सामग्री साक्षात्कारात्मक रूप से पोषित करती है। इस श्रेणी में आधुनिक युग के आचार्य शुक्ल एवं गुलाबराय का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

१.९ लघुत्तरीय प्रश्न

१) रिक्त स्थान भरे -

१. जिन पदार्थों के द्वारा आस्वादन किया जाता है वे ———————— हैं।

२. ——————— रस को आस्वाद विषय मानते हैं।

३. ——————— का मत है कि कतिपय लोग ही मानते हैं कि नाट्य शास्त्र किस विद्वान का ग्रंथ है?

४. स्थायी भावों की संख्या कितनी है ?

५. संचारी भावों की संख्या कितनी है ?

६. उत्साह किस रस का स्थायी भाव है ?

७. श्रृंगार के स्थायी भाव को लिखिये।

८. करुण रस का स्थायी भाव लिखिए।

९. वीर का स्थायी भाव लिखिए।

१०. साधारणीकरण के प्रथम व्याख्याकार कौन थे ?

११. हिंदी के प्रथम आचार्य कौन है जिन्होंने साधारणीकरण की व्याख्या की ?

१२. किसकी दृष्टि में साधारणीकरण भाषा या काव्य भाषा का धर्म है ?

१.१० बोध प्रश्न

१) रस की अवधारणा स्पष्ट करते हुए उसके स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
२) रस सिद्धान्त पर चर्चा कीजिए।
३) साधारणीकरण पर दिए गए विभिन्न आचार्यों के मत स्पष्ट कीजिए।

१.११ संदर्भ ग्रंथ

१) रस सिद्धांत : स्वरूप और विश्लेषण - डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित.
२) रस सिद्धांत : डॉ. नगेन्द्र
३) भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा
४) काव्य शास्त्र - भगीरथ मिश्रा

❖❖❖❖

munotes.in

इकाई-२

अलंकार सिद्धांत

इकाई की रुपरेखा :

२.० उद्‌देश्य
२.१ प्रस्तावना
२.२ अलंकार अवधारणा
२.३ अलंकार : सिद्धांत की स्थापनाएं
२.४ अलंकारों का वर्गीकरण
२.५ सारांश
२.६ लघुत्तरीय प्रश्न
२.७ बोध प्रश्न
२.८ संदर्भ ग्रंथ

२.० उद्‌देश्य

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थी अलंकार अर्थ व स्वरूप, अलंकार की अवधारणा, अलंकार संबंधी सिद्धांत और अलंकारों के वर्गीकरण का अध्ययन कर सकेंगे।

२.१ प्रस्तावना

अलंकार अर्थात् काव्य की दृष्टि से काव्य की शोभा बढ़ाने वाले तत्व जिसे काव्यालंकार कहा जाता है। अलंकार के सूत्र प्राचीन ग्रंथों से हमें प्राप्त होते है जैसे वामन का काव्यालंकार सूत्र, रूद्र का काव्यालंकार और रूय्यक का अलंकार सर्वस्व आदि विशेषता अलंकार संबंधी प्राचीनतम ग्रंथ है। जो अलंकार अभ्यास के दिशा निर्देश में सहायक है।

२.२ अंलकार अवधारणा

सामान्यतः अलंकार शब्द की व्युत्पति अलम् शब्द में कृ धातु के योग से हुई है। अलम् शब्द का अर्थ पर्याप्त और कृ का अर्थ करना होता है। इस प्रकार अलंकार का अर्थ पूर्ण अथवा पर्याप्त करना हुआ। संस्कृत में अलम् शब्द मूलतः पर्याप्त, अलंकृत और काव्य आदि अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। पर्याप्त अर्थ में अलम् शब्द - समर्थ, उपयुक्त और योग्य आदि संस्कृत के अर्थ

जिसमें अलम् शब्द अलंकारिष्णु आदि के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ था। काव्य अर्थ में अलम् शब्द कवि मानस की लोकोत्तर अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ था। काव्य अर्थ में अलम् शब्द कवि मानस की लोकोत्तर अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ था। अलंकार का अर्थ इस प्रकार भी दिया गया है -

१) अलंकारोतीति अलंकार - अर्थात जो सुशोभित करता है, वह अलंकार है।
२) अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकार - अर्थात जिसके द्वारा अन्य अलंकृत किया जाता है, वह अलंकार है।

ये दोनों अर्थ अलंकार के विकास क्रम को दर्शाते हैं। पहले वाक्य में अलंकार कर्ता अथवा विधायक और दूसरे काव्य में अलंकार साधन है। संस्कृताचार्यों और हिंदी के आचार्यो में से कई विद्वानों ने दूसरे अर्थ को महत्त्व दिया है।

२.३ अलंकार : सिद्धांत की स्थापनाएं

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार का सर्व प्रथम विवेचन करने का श्रेय आचार्य भरत को जाता है। भरत ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक का उल्लेख अपने अलंकार विवेचन में किया है। नाट्य के संबंध में ही उसे स्वतंत्र रूप में नही देखा।

अलंकार का यदि प्रारंभ में किसी ने स्वतंत्र रूप में विवेचन किया तो वे थे आचार्य भामह। अलंकार को काव्य का सौंदर्यवर्द्धक एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना तब से अब तक अलंकार के स्वरूप व विवेचन की किसी न किसी रूप में अवश्य चर्चा होती रही। भामह के मतानुसार

न कांतमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।

अर्थात जिस प्रकार कामिनी का मुख सुंदर होते हुए भी आभूषणों के बिना सुशोभित नही होता, उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य की शोभा नहीं होती है।

आ. भामह शब्द एवं अर्थ की वक्रतापूर्ण उक्ति को अलंकार मानते है। वक्रोक्ति को आपने अलंकार का मूल माना है। आपका यह मानना है कि अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति होती है।

आ. दण्डी के अनुसार -
"काव्यशोभाकरान् धर्मानिलंकारान प्रच्क्षतें"

अर्थात काव्य के शोभाकार धर्म को अलंकार माना है।

अग्निपुराण में भी कहा गया है कि अर्थालंकारों से रहित कविता विधवा के समान है।
"अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती।"

munotes.in

वामन मूलतः रीति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य थे। फिर भी वामन ने संस्कृत के पूर्वाचार्यों की भाँति काव्य में अलंकार की महत्ता का प्रतिपादन किया था। वे अलंकार के द्वारा काव्य को ग्राह्य और सौंदर्य मात्र को अलंकार मानते हैं।

काव्य ग्राह्यमलंकरात्।
सौंदर्यमलंकारः।।

वामन गुणों को काव्य की शोभा के धर्म मानते है।

काव्यशोभायाः कर्तासे धर्मा गुणाः। और उस शोभा के अतिशय हेतु - अलंकार को मानते है -

"तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।।"

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आचार्य भामह, दंडी और वामन ने काव्य के लिए अलंकार को अनिवार्य तत्त्व माना था। किंतु आनंदवर्धन कृत ध्वन्यालोक के सृजन के बाद अलंकार के स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। क्यों कि अब अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य तत्व न रहकर मात्र काव्य के बाह्य शोभाकार धर्म मात्र रह गए। क्योंकि आनंद वर्धन ने अपने ठोस प्रमाणों द्वारा रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर अलंकारों को काव्य के बहिरंग शोभावर्धक तत्त्व सिद्ध किया। उनका कहना है -

तमर्थवलाम्बत्ते येडगिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मंतव्याः कटकादिवत।।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार कटक-कुंडलादि आभूषण कामनी के बाह्य सौंदर्य की अभिवृद्धि करते है, उसी प्रकार काव्य के अलंकार काव्य के बाहरी शरीर में अवहियत होकर काव्य के बाहरी सौंदर्य में अभिवृद्धि करते हैं। अतः काव्य के लिए अलंकारों का महत्त्व उतना ही समझना चाहिए, जितना रमणी के सौंदर्योत्कर्ष के लिए अलंकारों का होता है। इस दृष्टि से अलंकार काव्य के गौण तत्त्व हुए, अनिवार्य नहीं।

आनंदवर्धन के अनुकरण पर अभिनव गुप्त भी अलंकार और अलंकार्य को अलग मानते है। उनका स्पष्ट मत है जो बाह्य वाचक रूप अंगों पर आधारित होते है, उन्हें कटक आदि की भाँति अलंकार मानना चाहिए -

आनंदवर्धन के बाद बहुत से आचार्यो ने अलंकार को बाहरी शोभाकर तत्त्व मानते हुए अलंकार को काव्य के लिए गौण तत्त्व माना। इन आचार्यो में मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ का नाम उल्लेखनीय है।

मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि अनुप्रास और उपमादि अलंकार शरीर के हारादि आभूषणों की भाँति काव्य शरीर का श्रृंगार करते है -

उपकुर्वदिन ने संत येडगंद्वरेण जातुचित।
हारादिवदलंकादास्ते नुप्रासोपमादयः।।

आ. विश्वनाथ ने भी रस आदि के उपकारक शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले अस्थिर धर्मो को अलंकार माना, जो शरीर में बाजूबंद के समान-काव्य शरीर की शोभा को बढ़ाते है -

शब्दार्थ योस्थिरा धर्माः शोभातिशय शालिनः
रसादीनुपकुर्वतोऽ लंकारास्तेऽगदादिवत्।।

पंडित जगन्नाथ रमणीयता के प्रयोजकों को अलंकार मानते है -
"रमणीयता प्रयोजका अलंकारा।"

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार काव्य के बाह्य शोभावर्द्धक उपकरण सिद्ध हो जाने के बाद एक बार पुनः काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन हुआ। इन आचार्यो में कुंतक, भोजराज और जयदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आचार्य कुंतक ने अलंकारयुक्त उक्ति को काव्य माना था।

आचार्य जयदेव ने अलंकारों को अधिक महत्त्व दिया है। जयदेव ने लिखा है कि जो अलंकार शून्य भी शब्दार्थ में काव्यत्व स्वीकार करते हैं, वे चतुर मनुष्य अग्नि में अनुष्णता को स्वीकार करे -

अंगी करोति यः काव्य शब्दार्धावनलंकृति।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमवत कृति।।

वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार विषयक मूलतः दो धारणाएं परिलक्षित होती है।

१) अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य तत्त्व है। इस धारणा को मानने वाले आचार्यों में - भामह, दंडी, वामन, अग्निपुराणकार कुंतक और जयदेव आदि प्रमुख है।
२) अलंकार काव्य के बाह्य शोभाकार धर्म हैं। इस धारणा को मानने वाले आचार्यो में आनंदवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ और पंडित जगन्नाथ का नाम आता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में कतिपय आचार्य ऐसे भी हैं, जिन्होंने अलंकार को काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने वाला तत्त्व माना है। इन आचार्यो में महिम भट्ट और देवशंकर पुरोहित का नाम उल्लेखनीय है। किंतु उनकी अलंकार परिभाषा उन आचार्यो से सर्वथा भिन्न है। उनका मत है कि वैचित्र्य नाम से कहा जाने वाला चारुत्त्व की बुद्धि विषय होने पर अलंकार होता है।

चारुत्त्वं हि वेचित्र्यापर पर्याय प्रकाशमानलंकारः।।
देवशंकर पुरोहित चमत्कारोत्पादक तत्त्व को अलंकार मानते है -

चमत्कार प्रभावता तदवच्छेदकमलक्रिया।

आनन्दवर्धन के प्रबल तर्को के कारण अलंकार की काव्य के बाह्य शोभावर्धक दृष्टि को कई आचार्यो ने मान्यता प्रदान की। हिंदी के रीतिकाल में भी संस्कृत काव्यशास्त्र की भाँति तीन वर्ग है। पहले वे आचार्य है जिन्होंने भामह की तरह अलंकारों को काव्य का अति आवश्यक तत्त्व माना है। जैसे आ. केशवशास्त्री श्रीपति, दलपति, वंशीधर दूल्ह, गुलाब सिंह और नुरारिदान आदि का नाम उल्लेखनीय है। केशव ने काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन न करते हुए लिखा है कि कविता रूपी कामिनी सद्यपि अच्छी जाति, अच्छे लक्षणों, अच्छे वर्णों, छन्दों और रस युक्त होने पर भी अलंकार के बिना सुशोभित नहीं होती हैं।

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुक्त।
भूषण बिन न विराजई, कविता वनिता मित्त।।

आनंदवर्धन की तरह अलंकार को काव्य का शोभाकार साधन मानने वाले हिंदी के आचार्यो में चिंतामणि, भिखारीदास, रूपसाहि और देव का नाम उल्लेखनीय है। आनंदवर्धन आदि आचार्यो की भाँति इन आचार्यो ने अलंकारों को शरीर के आभूषणों की तरह काव्य शरीर का शोभावर्द्धक साधन माना है -

अलंकार ज्यौं पुरुष को हारादिक मन आनि।
प्रासोपम आदिक कवित अलंकार ज्यौं जानि।।
कविकुल कल्पतरु:या

हिंदी में संस्कृत के महिमभट्ट और आचार्य देवशंकर पुरोहित के समान अलंकार को काव्य का चमत्कार उत्पादक तत्त्व मानने वाले आचार्यों की संख्या भी अधिक है। जैसे जयराज, गोविंद दास, ग्वाल, लच्छिराम और अर्जुनदास केडिया आदि का नाम उल्लेखनीय है। गोविंददास का मत है -

'रस तै बिगि तै भिन्न अरु' शब्दार्थ के चमत्कार को प्रकट करै सो अलंकार है। (दूषणोल्लास - १३७)

हिंदी के आधुनिक आचार्यो ने अलंकार के समन्वित स्वरूप का उद्घाटन किया है। आचार्य शुक्ल ने स्वीकार करते हुए लिखा है कि वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी कभी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है।... कभी बात को घुमा फिराकर कहना पड़ता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं।

डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार - वस्तुतः अलंकारों का प्रयोग भाषा और भावों का संचय करने में तथा उसके द्वारा जीवन के कार्य व्यापारों को आकर्षक बनाने में है। इन प्रयोगों को इसलिए अलंकार नाम दिया गया है।

डॉ. गुलाबराय के अनुसार अलंकार निहांत बाहरी वस्तू नहीं, जो जब चाहे पहन लिए जाए या उतार कर रख दिए जाये यह तो कवि या लेखक के साथ बँधे हुए हैं।

डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार कथनों की विशेषता को अलंकार कहते हैं।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार रसवादियों का यह सिद्धांत कि रमणीयता मूलतः भाव के आश्रित है सर्वथा निभ्रांत है। परंतु भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता या तीव्रता साधारण शब्दों द्वारा - बिना किसी प्रकार की वक्रता से व्यक्त की जा सके यह संभव नहीं है।

अतः अलंकार काव्य के लिए न तो आवश्यक तत्त्व है न गौण, अपितु अलंकार काव्य के वे सहज धर्म हैं जो कवि अभिव्यक्ति के साथ स्वतः प्रयुक्त हो जाते है। काव्यशास्त्र के जन्म से पूर्व सूचित, वैदिक साहित्य में प्रयुक्त अलंकार इस बात के प्रमाण है।

२.४ अलंकारों का वर्गीकरण

भारतीय काव्यशास्त्र निम्न शीर्षक के अंतर्गत दिखाया जा सकता है।

१) संस्कृत में अलंकारों का वर्गीकरण :

संस्कृत के आरंभिक आचार्यों अलंकारों का स्पष्टतः वर्गीकरण नहीं मिलता है। किंतु भामह, दंडी और वामन आदि आचार्यों के अलंकारो स्वरूप विवेचन से स्पष्टतः अलंकारों के दो भेद परिलक्षित होते हैं। वे है - शब्दालंकार और अर्थालंकार। इस संदर्भ में भामह लिखते हैं शब्द और अर्थ की वक्रतापूर्ण उक्ति को अलंकार कहा जाता है। वस्तुतः भामह ने अप्रत्यक्ष रूप से अलंकारों के दो भेदों का निरुपण कर दिया है। इसी प्रकार दंडी और वामन नें भी प्रकारांतर अलंकार स्वरूप विवेचन के बहाने अलंकारों के शब्दगत और अर्थगत दो भेदों का निरुपण अप्रत्यक्ष रूप में किया था। किंतु स्पष्ट विविध अलंकारों को वर्गीकृत करके विवेचन करने की परंपरा का आरंभ रुद्रट कृत काव्यालंकार से होता है। आचार्य रूद्रट ने सर्वप्रथम काव्यालंकार के द्वितीय अध्याय में पाँच शब्दालंकार, वक्रोकित, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्रालंकार का उल्लेख किया है। इस के बाद उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय, श्लेष को अर्थालंकार और अन्य सभी को इन्ही के भेद माने है। इस प्रकार रुद्रट के अलंकार वर्गीकरण की सूचि इस प्रकार है -

क) शब्दालंकार - वक्रोकित, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र।

ख) अर्थालंकार -

१) वास्तव के भेद : सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्या, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, लेश, अवस, अवसर, मीलित और एकावली।

२) औपम्य के भेद : उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, स्मरण, अपह्युति, अर्थान्तर व्यास, उभयन्यास, भ्रांतिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टांत, पूर्व सहोक्ति, समुच्चय, साम्य आदि।

३) अतिशय के भेद :

पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तदगुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, व्याधीत, अहेतु।

४) अर्थ श्लेष के भेद : अविशेष, विरोध, वक्रश्लेष, व्याजश्लेष, उक्तिश्लेष, असंभव श्लेष, अवयव श्लेष, तत्त्व श्लेष, विरोधाभास अलंकार, अलंकार साकार्य।

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करने वाले आचार्य रुय्यक है। आ. रूय्यक ने अलंकारों के दो भेद और उनको अनेक भेदों में विभाजित किया था। इनके अलंकार वर्गीकरण को इस प्रकार देखा जा सकता है।

क) शब्दालंकार :

पौनरुक्त वर्ग -

१) अर्थ पौनरुक्य - पुनरुक्यवदाभास।

२) व्यंजन पौनरुक्त्य - देकानुप्रास, वृत्यानुप्रास।

३) स्वर व्यंजन पौनरुक्त्य - यमक

४) शब्दार्थोभय पौनरुक्त्य - लाटानुप्रास

५) स्थान विशेष पौनरुक्त्य - चित्र

ख) अर्थालंकार -

१) सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग -

अ) भेदोभेदतुल्यानामूलक - उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण

आ)अभेद प्रधानमूलक -

१) आरोप मूलक - रूपक, परिणाम, संदेह, क्रांतिमान उल्लेख एवं आप्नहुति।

२) अध्यवसाय मूलक - उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति

इ) गम्यमान औपम्य - तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तुपमा, दृष्टांत, निदर्शना।

ई) भेद प्राधान्य मूलक - व्यतिरेक, सहोक्ति वितोक्ति।

२) विशेषण विच्छिति :

१) विशेषण साम्य - समासोक्ति, परिकर।

२) विशेष्य साम्य - श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थांतरन्यास।

३) गम्यतार्थ विच्छिति - पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप।

४) विरोध मूलक - विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम-विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष।

५) श्रृंखलामूलक अलंकार - कारणमाला एकावली, मालादीपक एवं सार।

६) न्याय मूलक अलंकार -

क) तर्क न्याय मूलक - काव्यलिंग, अनुमान।

ख) वाक्य न्याय मूलक - यथासंख्या, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापति, विकल्प, समुच्चय, समाधि।

ग) लोक न्याय मूलक अलंकार - प्रत्यंनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य उत्तर

७) गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक अलंकार - सूक्ष्म व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोचित, भाषिक, उदात्त।

८) चित्रवृत्ति स्वरूप अलंकार - रसवत्, प्रेम, उर्जस्वी और समाहित।

९) चित्रवृत्ति स्वरूप अलंकारों से पृथक अलंकार - भावोदय, भावसंधि, भाव सबलता।

१०) मिश्र अलंकार - संसृष्टि, संकर।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य रूय्यक के पश्चात विद्याधर ने अपने ग्रंथ एकावली और विद्यालय में 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में अलंकारों को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया था। किंतु इन आचार्यो का अलंकार वर्गीकरण पूर्णतः रूय्यक के वर्गीकरण से प्रभावित प्रतीत होता है। इतना अवश्य है कि विद्यानाथ को अलंकार वर्गीकरण कतिपय नूतनता को लिए हुए है। आचार्य विद्यानाथ से अलंकार वर्गीकरण इस प्रकार है।

१) साधर्म्य मूलक -

क) अभेद प्रधान - रूपक परिणाम संदेह, भ्रांतिमान, उल्लेख तथा अप्नहुति

ख) भेद प्रधान - दीपक, तुल्ययोगिता, प्रतीप, व्यतिरेक, निदर्शना, दृष्टांत, वक्रोक्ति, प्रतिवस्तुपमा।

ग) भेदोपभेद प्रधान - उपमा, अन्नवय, उपमेयोपमा और स्मरण।

२) अध्यवसाय मूलक - उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति

३) विरोध मूलक - विभावना, विशेषोक्ति, विषम चित्र, असंगति, अन्योन्य, व्याघात, अतदगुण, भाविक एवं विशेष।

४) वाक्य न्याय मूलक - यथासंख्या, परिसंख्या, अर्थापति, विकल्प, समूदाय।

५) लोक व्यवहार मूलक - परिवृत्ति, प्रत्यनीक, द्विगुण, समाधि, सम स्वाभावोक्ति, उदात्त और विनोक्ति।

६) तर्क न्याय मूलक - काव्यलिंग, अनुमान और अर्धांतरन्यास।

७) श्रृंखला वैचित्र्य मूलक - कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

८) अपत्यव मूलक - व्याजोक्ति, वक्रोक्ति और मीलित।

९) विशेषण वैचित्र्य मूलक - समासोक्ति और परिकर।

इस वर्गीकरण के आरंभ में विद्यानाथ ने शब्दालंकारों और अंत में अलंकारों का उल्लेख किया है।

हम कह सकते है कि रूय्यक की ही रीति पर विद्यानाथ जी चले है। इस लिए रूय्यक का ही वर्गीकरण वैज्ञानिक है।

munotes.in

हिन्दी में अलंकारों का वर्गीकरण -

संस्कृत साहित्य की भाँति हिंदी साहित्य में भी अलंकार वर्गीकरण का प्रयास किया गया है। इनमें मुख्य रूप से केशवदास, भिखारीदास, रमाशंकर शुक्ल रसाल कन्हैयालाल पोद्दार, डॉ. नगेन्द्र एवं वचनदेव कुमार का विशेष नाम है।

आ. केशवदास जी ने अपनी रचना कविप्रिया के नौवें प्रभाव से सोलहवे प्रभाव तक अलंकारों का वर्णन किया है। इनके अलंकार, वर्णन से छिपे रूप से अलंकार स्वयं वर्गीकृत हो जाते है।

इसी प्रकार काव्य निर्णय में भिखारीदास जी ने भी अलंकारों का तीसरे, आठवें से अठराहवें और बीसवें से इक्कीसवें उल्लासों में अलंकारों का निरूपण किया है। इनके अलंकारों के विवेचन से ग्यारह वर्ग बनते हैं। किंतु, इन वर्गों का भी ठोस वैज्ञानिक आधार न होने के कारण भिखारीदास का भी अलंकार वर्गीकरण, सर्वमान्य नहीं हो सका। इतना अवश्य है कि आचार्य भिखारीदास ने अलंकारों के समय का सामान्य, आधार ढूँढ़कर विवेचन अवश्य किया है। इनके बाद पोद्दार कन्हैयालाल एवं डॉ. मिश्र रामशंकर ने भी क्रमशः काव्य प्रकाश और अलंकार पीयूष में अलंकारों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया कि इनका वर्गीकरण भी संस्कृत के आचार्यो के वर्गीकरण का अनुकरण प्रतीत होता है।

हिंदी के आधुनिक आचार्यों में आचार्य नगेन्द्र ने खास भूमिका का निर्वाह किया है। उन्होंने मनोविज्ञान की दृष्टि से छह वर्गो में वर्गीकृत किया है। उनके द्वारा बताए गए वर्ग-साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार है।

विद्वानों के अनुसार रूय्यक का अलंकार वर्गीकरण ही वैज्ञानिक है। इन्हीं के वर्गीकरण के आधार पर अन्य विद्वानों ने वर्गीकरण प्रस्तुत किया है कई हिंदी और संस्कृत आचार्यों ने। रामचरित मानस में अलंकार योजना ग्रंथ में रूय्यक के वर्गीकरण में वर्गीकरण - बहिर्गत वर्ग जोड़कर रूय्यक के वर्गीकरण को निर्दोष बना दिया है। अतः अलंकार वर्गीकरण की दृष्टि से आचार्य रूय्यक और हिंदी के आचार्य डॉ. वचनदेव का योगदान है।

२.५ सारांश

इस सिद्धांत के बाद भारतीय काव्यशास्त्र में सर्वाधिक विवेचन अलंकार का ही हुआ है। अलम न क्र शब्द के संयोग से अलंकार शब्द बना है। अलम शब्द का अर्थ पर्याप्त या चमक और कृ का अर्थ करना है। इस प्रकार अलंकार का अर्थ चमकना या पूर्ण (पर्याप्त) करना है।

भरत मुनि ने अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन किया। आनन्दवर्धन ने रसध्वनि को काव्य की आत्मा और अलंकार को काव्य के शोभावर्द्धक तत्त्व माना। आचार्य, मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ ने अलंकार को काव्य का बाह्य शोभाकर तत्व मानते हुए काव्य का गौण तत्त्व माना।

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार वर्गीकरण को वैज्ञानिक विवेचन रूय्यक ने किया।

munotes.in

२.६ लघुत्तरीय प्रश्न

१) रिक्त स्थान भरें :

१) आचार्य ————— ने वर्ण और पद वक्रता को विवेचित कर वाक्य वक्रता का विवेचन किया है।

२) आचार्य दंडी ने काव्य के शोभकार ——————- को अलंकार माना है।

३) रमणीयता के प्रायोजकों को अलंकार ———————— मानते हैं।

४) ——————– ने अलंकार युक्त उक्ति को काव्य माना है।

५) अग्निपुराणकार अर्थालंकारों से रहित कविता ——————- के समान मानते हैं।

६) अलंकार के स्वरूप विवेचन की परंपरा का आरंभ ——————- से आरंभ हुआ।

७) भारतीय काव्यशास्त्रों में अलंकारों का वैज्ञानिक वर्णन ————— ने किया है।

८) कवि प्रिया ————————– की रचना है।

९) रामचरितमानस में अलंकार योजना ग्रंथ ——————– की रचना है।

१०) आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से अलंकारों के छह वर्ग कि ——————– ने किए है।

२.७ बोध प्रश्न

१) अलंकार के स्वरूप एवं स्थापनाओं का विवेचन कीजिए।

२) हिंदी में अलंकारों के वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।

२.८ संदर्भ ग्रंथ

१) भारतीय काव्य शास्त्र - डॉ. हर्षबाला शर्मा

२) भारतीय काव्यशास्त्र - द्वारकानाथ बाली

❖❖❖❖

munotes.in

इकाई-३

रीति सिद्धांत

इकाई :

३.१ उद्देश्य
३.२ प्रस्तावना
३.३ रीति की अवधारणा एवं स्वरूप
३.४ रीति - काव्यगुण
३.५ रीति संबंधी स्थापनाएं
३.६ रीति के भेद
३.७ सारांश
३.८ लघुत्तरीय प्रश्न
३.९ बोध प्रश्न
३.१० संदर्भ ग्रन्थ

३.१ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र योग्य होंगे -

- रीति सिद्धान्त का अर्थ समझने में
- रीति के भेद बताने में
- रीति संबंधी आचार्यों के मत समझने में
- रीति एवं शैली समझने में
- काव्य गुणों को समझने में
- रीति के महत्त्व को समझने में

३.२ प्रस्तावना

भारतीय काव्य शास्त्र में इस अलंकार के पश्चात रीति सम्प्रदाय की चर्चा होती हैं । रीति सिद्धान्त को कुछ विद्वान गुण सिद्धान्त भी मानते हैं । प्रसाद ओज माधुर्य आदि गुणों से युक्त पद रचना रीति आचार्य वामन के अनुसार वैदर्भीय रीति में सभी गुण रहते हैं, जबकि गौड़ी में केवल दो गुण ओज और कांति विद्यमान होते हैं । दूसरी ओर, पाश्चात्य, काव्यशास्त्र में रीति को 'शैली' कहा गया है । इसे काव्य के चार तत्त्वों में से एक माना गया है ।

munotes.in

३.३ रीति की अवधारणा एवं स्वरूप

रीति, संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन (४थी सदी) माने जाते है । जबकि रीति शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में पहले भी होता रहा है । किंतु वामन ने रीति के सुव्यवस्थित रूप की विस्तृत व्याख्या की । रीति शब्द का अर्थ है शैली, गति, मार्ग और पंथ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में रीति की परिभाषा देते हुए आचार्य वामन लिखते हैं - "विशिष्ट पद रचना रीतिः।" है। काव्य से गुणात्मक पद रचना को रीति कहते है । गुणात्मकता से उनका अभिप्राय ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुणों से हैं ।

वामन लिखते हैं - "काव्य शोभायाः कर्तारौ धर्माः गुणाः।" अर्थात वामन यह मानते है कि गुण काव्य के योगकारक धर्म हैं। वामन ने गुणों को उल्लेखनीय महत्त्व दिया। वामन यह मानते है कि गुणों की अनुपस्थिति में काव्य का अस्तित्व असंभव है। इस विवेचन से हम कह सकते हैं कि 'प्रसाद, ओज, माधुर्य आदि गुणों से युक्त पद रचना रीति है। इसलिए रीति संप्रदाय को गुण संप्रदाय भी कहा जा सकता है।'

वामन, अलंकार को काव्य का अनित्य धर्म मानते है। जो काव्य को अतिशय करने वाला तत्त्व है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वामन गुणों की सत्ता को काव्य में अनिवार्य मानते है। किंतु अलंकारों को काव्य का अनिवार्य अंग नहीं मानते।

आचार्य दण्डी ने अलंकार को काव्य का शोभाकारक धर्म माना है । अतः यह कहना उचित होगा कि दंडी जिसे अलंकार कहते हैं, वामन उसे ही गुण कहते हैं । "विशेषो गुणात्मा रीतिरात्मा काव्यस्य ।"

यह विशिष्टता गुणों के संयोजन से आती है । गुण रीति का सर्वस्व है और गुणों से युक्त रीति ही काव्य की आत्मा है । काव्यात्मा का प्रश्न उठाने वाले प्रथम आचार्य वामन हैं । इन्होंने तीन रीतियों वैदर्भी, गौडीय और पांचाली का उल्लेख किया । जिसमें सम्य्क गुणों से युक्त होने के कारण सर्वश्रेष्ठ होती है ।

दण्डी ने सर्वप्रथम मार्ग शब्द का प्रयोग किया । इनके समय में मार्गों का स्वरूप निश्चित हो गया। वैदर्भी सौंदर्य और सुकुमारता का व्यंजक था तथा गौडी - औद्धत्य एवं उग्रता का । दण्डी ने सर्वप्रथम गुणों का संबंध काव्य के स्वरूप से न मानकर मार्ग से किया । उन्होंने भरत के अनुसार दस गुण मानते हुए इसे वैदर्भी मार्ग के गुण बतलाये और गौडी मार्ग में इन गुणों का प्रायः विपर्यस माना । दण्डी के काल में इन मार्गों का भौगोलिक महत्त्व था । विदर्भ प्रांत के कवियों की काव्य रीति वैदर्भी और गौड़ (बंगाल) देश का लेखन गौडीय कहा जाता था ।

वामन ने सर्वप्रथम दण्डी के कथन को स्पष्टता दी और उसे व्यवस्थित कर एक नये सिद्धांत के रूप में प्रवर्तित किया । वामन की रीति अंग्रेजी के 'स्टाइल' से अलग है । क्योंकि इसमें कवि के व्यक्तित्व के समावेश की स्वीकृति नहीं । वामन के अनुसार पद विन्यास का वैशिष्टय निर्भर करता है गुणों के संयोजन पर । इसके लिए इन्होंने दण्डी और भरत की भाँति दस गुणों की सत्ता स्वीकार की और उसके नाम भी वही दिये ।

munotes.in

३.४ काव्य गुण

शब्द और अर्थ के शोभाकारण धर्म को गुण कहा जाता है । दूसरे शब्दों में कहें तो काव्य के सौंदर्य में वृद्धि करने वाले शब्द को गुण कहते हैं । और उसमें नित्य विद्यमान रहने वाले धर्म को गुण कहते हैं । काव्य गुण की अवधारणा भरत मुनि के समय से ही प्राप्त होती हैं । गुण, रस का धर्म है अर्थात इसके अंतरंग गुण ही है । अर्थात इसमें सदैव विद्यमान रहते हैं । निरस काव्य में गुण नहीं रहते । आचार्य वामन ने गुणों को स्वतंत्र सत्ता प्रदान की ।

१) ओज गुण :

आचार्य वामन ने ग्रन्थ 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति हैं' इसमें लिखा हैं - "काव्यशोभाया: कर्तारौ धर्मा: गुणा: ।" वर्णों, सामासिक पदों एवं रेफयुक्त वर्णों का प्रयोग अधिक किया जाता है वीर रौद्र, भयानक, बीभत्स आदि रसों की रचना में ओज गुण ही अधिक पाया जाता है । आ. भिखारीदास ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है - "उद्धत अच्छर जहँ भरै, स, क, ट युत मिलिआइ ताहि ओज गुण कहत है, जे प्रवीन कविराइ ।।"

उदा. चिक्करहिं दिग्गज डोल महि, अहि लोल सागर खर भरे ।
मन हरख सम गन्धर्व सुरमुनि, नाग किन्नर दुख हरे ।
कटकटहि मर्कट विकट भर बहु, कोटि कोटिन धावहिं
जय राम प्रबल प्रताप कौसल, नाथ गुन गत गावहिं ।

उदा. मैं सत्य कहता हूँ सखे । सुकुमार मत जाने मुझे ।
यमराज से भी मुझ में, प्रस्तुत सदा जाने मुझे ।
हे सारथे ! द्रोण क्या ? आये स्वयं देवेन्द्र भी ।
ये भी न जीतेंगे समर में, आज क्या मुझसे कभी ।।

उदा. देश भक्त वीरों मरने से, आज नेक नहीं डरना होगा ।
प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा ।

२) माधुर्य गुण :

चित्त का श्रुति-रूप आल्हाद, जिसमें अंतकरण द्रवित हो जाए ऐसा आनन्द विशेषत: माधुर्य गुण कहलाता है । अर्थात ह्रदय को आनन्द, उल्लास से भर देने वाली कोमल पदावली से युक्त रचना माधुर्य गुण सम्पन्न होती है । जिसको पढ़कर चित्त में श्रृंगार, करुणा या शांति के भाव उत्पन्न होते हैं, वह माधुर्य, गुणयुक्त रचना मानी जाती है ।

इसमें संयुक्ताक्षरों ट वर्गीय वर्णों एवं सामासिक पदों का पूर्ण अभाव पाया जाता है । अथवा अत्यल्प प्रयोग होता है । श्रृंगार, हास्य, करुण, शांत आदि रसों से युक्त रचनाओं में माधुर्य गुण पाया जाता है । आचार्य भिखारीदास ने इसका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है ।

"अनुस्वार औ वर्गयुत, सबै वरन अटवर्ग ।
अच्छर जामै मृदु परै, सौ माधुर्य निसर्ग ।।"

उदा. "कंकन देश किंकिनि नुपुर धुनि सुनि

कहत लखन राम राम ह्रदय गुनि ।
मान हुँ मदन दुदुंभी दीन्हिं,
मनसा विश्व विजय कर लीन्हि ।।”

उदा. बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय ।
सौंइ करै भौंहनि हसै, देने कहि नटि जाय ।।

३.५ रीति सम्बंधी विभिन्न आचार्यों की स्थापनाएं

रीति का समर्थन भले ही सभी विद्वानों ने नहीं किया किंतु रीति को किसी न किसी रूप में उल्लेख अवश्य किया है । चाहे उसका नामकरण किसी और रूप में अवश्य किया है । कुछ आचार्यों के मत इस प्रकार हैं ।

आचार्य कुंतक वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते थे । रीति को उन्होंने वामन की तरह काव्य की आत्मा नहीं माना । रीति को एक नई दिशा प्रदान की और उसे कवि के स्वभाव से जोडा । तथा नाम भी दिया - सुकुमार मार्ग (वैदर्भी रीति), विचित्र मार्ग (गौडी रीति), मध्यम मार्ग (पांचाली रीति) । इस प्रकार यह कहना असंगत न होगा कि कुंतक भी रीति की उपेक्षा न कर सके । साथ ही उसके महत्त्व को यत्किंचित रूप में स्वीकार किया । वे रीति को मार्ग कहते हैं ।

आचार्य मम्मट ने रीति को वृत्ति का पर्याय मानते हुए वृत्यानुप्रास नामक शब्दालंकार के अंतर्गत निरूपित किया और वामन के द्वारा बनाए गुणों का निर्ममतापूर्ण खण्डन किया । आपने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी - “वृत्ति नियतवर्णगतोरसविषयो व्यापारः” अर्थात ‘नियत वर्णो का रस विषयक व्यापार वृत्ति (रीति) हैं ।’ आपने तीन वृत्तियों और तीन गुणों को स्वीकार किया है ।

मम्मट ने वैदर्भी रीति को उपनागरिका वृत्ति कहा है । यह माधुर्य गुण से युक्त होती है । इसमें श्रृंगार, करुण आदि कोमल रसों का समावेश होता है ।

वामन ने जिसे गौडी रीति माना है उसे ही मम्मट ने पुरुषा वृत्ति कहा हैं । यह ओज गुण से युक्त होती है । इसमें ट वर्गीय व्यंजनो की बहुलता होती है । इसमें वीर, भयानक एवं रौद्र रस का समावेश होता है ।

वामन ने जिसे पाँचाली रीति कहा उसे मम्मट ने कोमला वृत्ति कहा । यह प्रसाद गुण युक्त होती है ।

‘साहित्य दर्पण’ के रचयिता आचार्य विश्वनाथ ने रीति को पद संघटना का नाम दिया । किंतु उसे काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं किया । आपने लिखा - “पद संघटना रीतिः संस्था विशेषवत उपकर्ती रसादीनाम ।”

munotes.in

आचार्य विश्वनाथ अत्यंत प्रवीण थे । हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने इस रीति का भरपूर प्रयोग किया है । बिहारी के इस दोहे में रीति की छटा देखिए -

रस सिंगार मंजनु दिये कंजनु, भंजनु दै न ।
अंजनु रंजनु ही बिना संजतु गंजतु नैन ।।

(यहाँ पर अनुस्वार का पूरा पूरा प्रयोग हुआ है । सामासिक पदावली नहीं, च वर्ग छाया हुआ है पद में माधुर्य हैं ।)

३.६ रीति के भेद

गौडी रीति :- गौडी रीति को 'परूषा' भी कहते हैं । इसमें दीर्घ समास युक्त पदावली का प्रयोग उचित माना जाता है । मधुरता और सुकुमारिता का इससे कोई संबंध नहीं है । इस दृष्टि से वीर, रौद्र, भयानक रस और बीभत्स रस को निष्पत्ति में गौडी रीति का भरपूर परिपाक होता है । युद्ध आदि वर्णन इसके प्राण है । इसमें ललकार, चुनौती और उद्दीपन का बाहुल्य होता है । कर्ण - कटु शब्दावली और महा प्राण जैसे - ट, ठ, ड, ढ, ण तथा ह आदि का प्रयोग इसमें अधिक होता है । गौडी या पुरुषा रीति का काव्य कठिन माना जाता है ।

आचार्य मम्मट इसे परिभाषित करते हुए कहते है -
ओजः प्रकाशकैस्तु पुरुषा (अर्थात जहाँ ओज गुण का प्रकाश होता है, वहाँ पुरुषा रीति होती है ।)

उदा. देखि, ज्वाल - जालु, हाहाकार, दसकंध सुनि
कह्यो धरो - धरो, धाए बीर बलवान है ।
लिएँ सूल - सेल, पास - परिघ, प्रचंड दंड,
भोजन सबीर, धीर धरे धनु - बान है ।

पाँचाली रीति :- पाँचाली रीति न तो वैदर्भी की भाँति समास रहित होती है और न गौडी रीति की भाँति समास रहित। यह मध्यम मार्ग है । इसमें छोटे छोटे समास अवश्य मिलते हैं । अनुस्वार का प्रयोग न होने पर वैदर्भी की तुलना में यह अधिक माधुर्य युक्त होती है । पाँचाली के विषय में कहा गया है -

माधुर्य सौकुमार्या प्रपन्ना पाँचाली ।
(अर्थात, पाँचाली में मधुरता और सुकुमारता होती है ।)

उदा. मानव जीवन - वेदी पर परिणाम हो विरह - मिलन का ।
सुख - दुख दोनों लायेंगे, है खेल आँख का मन का ।।

३.७ बोध प्रश्न :

१. रीति की अवधारणा स्पष्ट कीजिए ।
२. रीति विषयक विभिन्न आचार्यों द्वारा दीए गये मतों का उल्लेख कीजिए ।
३. रीति के गुणों पर चर्चा कीजिए ।
४. रीति के भेदों पर प्रकाश डालिए ।
५. रीति के महत्त्व को अपने शब्दों में लिखिए ।

३.८ लघुत्तरीय प्रश्न

१. आचार्य कुंतक ने काव्य का 'प्राण' किसे माना है ?
२. आचार्य वामन की रीति विषयक परिभाषा लिखिए ।
३. आचार्य वामन ने रीति के कितने भेद माने है ?
४. किस आचार्य ने काव्य के रूप गुण माने है ?
५. पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रीति को क्या नाम दिया है ?
६. किन गुणों से मुक्त पद रचना रीति है ?
७. वामन जिस तत्त्व को गुण कहते हैं दण्डी उसे क्या कहते है ?
८. रीति के लिए वृत्ति शब्द का प्रयोग किसने किया ?
९. रीति के लिए मार्ग शब्द का किसने प्रयोग किया ?
१०. गौडी रीति किस प्रदेश से जुड़ी हुई है ?
११. वैदर्भी रीति किस प्रदेश से जुड़ी हुई है ?
१२. रीति के कितने भेद है ?

३.९ संदर्भ ग्रंथ

३) भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र - सत्यदेव चौधरी एवं शांतिस्वरूप गुप्त
४) भारतीय काव्यशास्त्र - गणपतिचन्द्र गुप्त

❖❖❖❖

munotes.in

इकाई - ४ आधुनिक आलोचना

(आचार्य रामचंद्र शुक्ल)

इकाई - ५ आधुनिक आलोचना

(आचार्य नंददुलारे वाजपेयी)

इकाई - ६ आधुनिक आलोचना

(आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी)

लेखक - डॉ. अनंत द्विवेदी

munotes.in

इकाई-४

आधुनिक - आलोचना
(आचार्य राम चंद्र शुक्ल)

इकाई की रूपरेखा :

४.० इकाई का उद्देश्य
४.१ प्रस्तावना
४.२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - परिचय एवं कृतित्व
४.३ समीक्षा सिद्धांत एवं अवधारणाएँ
४.४ रस - चिंतन
४.५ लोक - मंगल की साधना का प्रतिमान
४.६ सारांश
४.७ वैकल्पिक प्रश्न
४.८ लघु उत्तरीय प्रश्न
४.९ बोध प्रश्न
४.१० अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

४.० उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप यह जान सकेंगे कि -

- आधुनिक हिंदी आलोचना का विकास किस तरह हुआ।
- आधुनिक हिंदी आलोचना के विकास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने क्या योगदान किया।
- आधुनिक हिंदी आलोचना में किन दृष्टिकोणों का विकास हुआ।

४.१ प्रस्तावना

आधुनिक हिंदी आलोचना का आरंभ तो भारतेंदु-युग में ही हो चुका था, परंतु सही मायने में इसके विकास का आरंभ आचार्य रामचंद्र शुक्ल से माना जाता है। इसके पहले पत्र-पत्रिकाओं में छपी पुस्तक-आलोचनाएँ ही व्यवहारिक उदाहरण के रूप में देखने को मिलती हैं। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के आगमन से क्रांतिकारी विकास देखने को मिलता है। उन्होंने न केवल आधुनिक हिंदी साहित्य के मूल्यांकन हेतु सही आलोचना दृष्टियों के

munotes.in

विकास का प्रयास किया बल्कि परंपरा से मिली हुई थाती को भी व्यवस्थित और आधुनिक समीक्षा हेतु समर्थ बनाने में बड़ी भूमिका निभायी।

४.२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - परिचय एवं कृतित्व

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म अश्विन शुक्ल चतुर्दशी सन् १८८४ ईस्वी को उत्तरप्रदेश के बस्ती जिले के अगौना नामक गांव में हुआ था। उनके पिता श्री चंद्रबली शुक्ल सरकारी सेवा में थे और उनका तबादला इधर-उधर होता रहता था। शुक्ल जी ने सन १८९८ ईस्वी में १४ वर्ष की उम्र में उर्दू के साथ अंग्रेजी लेकर मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। उनकी स्कूली शिक्षा में हिंदी सम्मिलित नहीं थी। हिंदी का संस्कार उन्हें अपने पितामही से प्राप्त हुआ, जो शिक्षित थीं। 'रामचरितमानस', 'विनयपत्रिका' के साथ-साथ सूर, रसखान तथा अन्य संत-कवियों की रचनाओं का परिचय भी उन्हें यहीं से प्राप्त हुआ। उनके हिंदी के प्रति बढ़ते लगाव को शुरुआत में बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' जी से मदद मिली।

सन १८९३ में पं. चंद्रबली शुक्ल जी की नियुक्ति मिर्जापुर जिले में सदर कानूनगो के पद पर हुई। मिर्जापुर में रहते हुए ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'प्रेमघन' के संपर्क में आए। सन् १८९६-९७ ईस्वी में शुक्ल जी द्वारा लिखी गई कविता 'भारत और बसंत' को 'प्रेमघन' जी ने 'आनंद कादंबिनी' में प्रकाशित किया। हिंदी के प्रति अपनी यात्रा की शुरुआत सन् १९०३ ईस्वी में रामचंद्र शुक्ल जी ने 'आनंद कादंबिनी' के संपादक बनकर मिर्जापुर से ही की। सन् १९०४ ई. में वे 'लंदन मिशन स्कूल' में ड्राइंग-मास्टर नियुक्त हुए। सन १९०५ ई. में मिर्जापुर के जिला कलेक्टर विंदम साहब ने उन्हें नायब तहसीलदार के पद के लिए मनोनीत किया, पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। दरअसल नियति उन्हें कहीं और ले जा रही थी। मिर्जापुर में रमईपट्टी मोहल्ले में रहते हुए हिंदी-प्रेमी नवयुवकों की एक जमात बन गयी, जिसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अतिरिक्त काशीप्रसाद जायसवाल, बाबू भगवानदास हालना, पंडित बद्रीनाथ गौड़, लक्ष्मीशंकर द्विवेदी और उमाशंकर द्विवेदी आदि प्रमुख थे।

सन् १९०८ ई. में आचार्य रामचंद्र शुक्ल को 'हिन्दी शब्द सागर' के सहायक संपादक के रूप में नियुक्त किया गया और वह मिर्जापुर छोड़कर सपरिवार काशी आ गए। हिंदी के लिए उनका वृहद योगदान करने का समय अब आ चुका था। काशी में 'हिंदी शब्द सागर' कोश के संपादन के साथ ही नागरी प्रचारिणी पत्रिका के संपादन का दायित्व भी उन्होंने संभाला। सन् १९०८ से लेकर १९१९ ई. तक का समय उनके वैचारिक विकास का समय था। इस अवधि में उन्होंने काफी कुछ लिखा। सन १९१९ में उनकी नियुक्ति काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हो गयी, जहाँ वे अपने जीवन के अंत तक रहे। २ फरवरी, सन् १९४१ ई. को आचार्य रामचंद्र शुक्ल की मृत्यू हो गयी। वे कई रोगों से पीडित थे। जिनमें से दमा का रोग प्रमुख था, अंततः इसी रोग से उनकी इहलीला समाप्त हो गयी।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समीक्षा संबंधी सिद्धान्तों एवं विचारों को जानने और समझने के लिए उनकी निम्नलिखित पुस्तकें अत्यंत उपयोगी हैं।

चिंतामणि भाग १, २, ३, एवं ४
हिंदी साहित्य का इतिहास (१२२९)
रस मीमांसा

तुलसी ग्रंथावली की भूमिका (१९२२)
जायसी ग्रंथावली की भूमिका (१९२४)
भ्रमरगीत सार की भूमिका (१९२५)

समीक्षा से इतर उन्होंने कुछ कविताएँ भी लिखी, जिनका बाद में 'मधुस्रोत' के नाम सन् १९७१ ई. में नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशन किया। उनके द्वारा लिखी गई एक मात्र कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' सन् १९०३ ई. में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुयी थी। उन्होंने 'बाबू काशीनाथ खत्री', 'फ्रेडरिक पिनकाट' और 'बाबू राधाकृष्ण दास' की जीवनियाँ लिखीं। उन्होंने एक संस्मरण 'प्रेमघन की छाया-स्मृति' भी लिखा, जो सन् १९३१ ई. में हंस के 'आत्मकथांक' में प्रकाशित हुआ। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'तुलसी ग्रंथावली', 'जायसी ग्रंथावली' तथा 'भ्रमरगीतसार' का संपादन किया। इनमें से 'तुलसी ग्रंथावली' का संपादन लाला भगवानदीन और बाबू ब्रजरत्न दास के साथ मिलकर तथा अन्य दो कृतियों का संपादन स्वतंत्र रूप से किया। इनके अतिरिक्त 'वीरसिंह देव चरित' (१९२६ ई.), 'भारतेंदु साहित्य' (१९२८ ई.) और 'अनुराग बांसुरी' (१९४५ ई.) का संपादन कार्य भी उन्हीं के द्वारा किया गया। आचार्य शुक्ल ने अनुवाद कार्य में भी गहरी रूचि ली और उन्होंने अंग्रेजी और बांग्ला इन दो भाषाओं से हिंदी में कई अनुवाद किए।

४.३ समीक्षा सिद्धांत एवं अवधारणाएँ

यद्यपि आधुनिक हिंदी आलोचना के विकास की सुगबुगाहट भारतेंदु युग में ही आरंभ हो चुकी थी। बालकृष्ण भट्ट ने अपने पत्र 'आनंद कादंबिनी' के माध्यम से जो छोटी-छोटी समीक्षाएँ या पुस्तक समीक्षाएँ प्रकाशित की, उनमें हम आधुनिक आलोचना को बीज रूप में देख सकते हैं। इसके बाद द्विवेदी युग में संस्कृत के समीक्षा सिद्धांतों का मूल्यांकन करके तथा उन्हें तत्कालीन भारतीय संस्कारों के अनुरुप ढ़ालकर प्रयोग में लाना आरंभ किया गया। समीक्षा में सामाजिक-नैतिक दृष्टिकोण का आरंभ भी द्विवेदी युग में ही हुआ। जिसे बाद में आगे चलकर छायावादी या स्वच्छंदतावादी आलोचना से कड़ी चुनौती मिली।

इस भूमिका से आगे बढ़कर आधुनिक हिंदी आलोचना को सही पथ की ओर बढ़ाने का काम सबसे पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा ही किया गया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रीय ग्रंथों 'नाट्यशास्त्र', 'काव्यादर्श', 'काव्यालंकार', 'अभिनवभारती', 'काव्यप्रकाश', 'ध्वन्यालोक', 'दशरूपक', 'काव्यमीमांसा', 'साहित्यदर्पण', 'रसतरंगिणी' तथा 'रसगंगाधर' आदि अनेक ग्रंथों का गहन अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त भारतीय - काव्यशास्त्रीय सिद्धांत 'रस', 'रीति', 'अलंकार', 'ध्वनि', 'वक्रोक्ति' तथा 'औचित्य' आदि का भी गहन अध्ययन और विश्लेषण किया था। वे सभी प्राचीन काव्यशास्त्रीय सिद्धांतो को महत्व देते थे और उनका मानना था कि आधुनिक काव्य में जहाँ तक यह सभी सिद्धांत रस के पोषक, उपकारक, आश्रित या रक्षक बनकर उपस्थित हों, वहाँ तक इनकी स्थिति उन्हें स्वीकार थी। इसके अतिरिक्त आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पाश्चात्य समीक्षा - सिद्धांतों का भी गहन अध्ययन किया था, और भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही तरह के सिद्धांतों से मिलजुल कर एक नई समीक्षा पद्धति का विकास किया, जो आधुनिक काव्य की समीक्षा में भी उपयोगी हो सके।

munotes.in

आचार्य शुक्ल ने हिंदी समीक्षा को सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से समृद्ध किया। एक तरफ उन्होंने आधुनिक साहित्य के अनुरुप सिद्धांतों का पुनर्मूल्यांकन कर उन्हें आज की समीक्षा के अनुकूल बनाया और दूसरी तरफ 'तुलसी ग्रंथावली', 'जायसी ग्रंथावली' और 'भ्रमरगीतसार' ग्रंथों की भूमिकाएँ तथा 'हिंदी साहित्य का इतिहास' जैसे ग्रंथ लिखकर अपने उन्हीं सिद्धांतों को व्यवहारिक रूप में परिणत किया।

४.४ रस चिंतन

प्राचीन काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों में आचार्य शुक्ल ने सबसे ज्यादा महत्व 'रस सिद्धांत' को दिया और उसे आलोचना का मानदंड माना। अपनी समीक्षा में उन्होंने नैतिकता, संयम और आदर्शो पर विशेष बल दिया। उन्होंने वर्तमान स्थितियों के अनुरुप 'रस सिद्धांत' की पुनर्व्याख्या की। 'रस सिद्धांत' के संदर्भ में भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव आदि के संबंध में अपने मौलिक विचारों का विकास किया। 'भाव' को वे प्रत्यक्ष बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति का संश्लिष्ट रूप मानते हैं। 'विभाव' को काव्य में मुख्य ठहराते हैं, और विभाव पक्ष के व्यापक चित्रण के लिए कल्पना का आधार ग्रहण करना ठीक समझते हैं। 'अनुभाव' के अंतर्गत वे आश्रय की चेष्टाओं को रखते हैं। अवधारणाओं को स्पष्ट करने के क्रम में ही उन्होंने 'रस दशा' की व्याख्या की, 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया को स्पष्ट किया, काव्य के मूल्यांकन के लिए रस-कोटियों के आधार पर काव्य-कोटियों का निर्धारण किया। इस तरह उन्होंने आलोचना की एक व्यवस्थित, क्रमबद्ध सारणी का निर्माण किया।

'भाव' को परिभाषित करते हुए शुक्ल जी मानते हैं कि, 'प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेषण का नाम भाव है।' भाव का अन्य रसांगों से अंतर स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, " 'स्थायी', वे भाव माने गए हैं, जो संक्रामक हैं, जिनकी व्यंजना श्रोता या पाठक में भी उन्हीं भावों का संचार कर सकती है।" भाव की इस व्याख्या में वे पूर्ण व्यवहारिक-दृष्टि अपनाते हैं। शास्त्रीय दृष्टि का अनुसरण न करते हुए भाव के स्थायित्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए वे कहते हैं, "स्थायित्व की ही बात लीजिए। अच्छी तरह ध्यान देने पर यह पता चलेगा कि भाव की तीन दशाएँ होती हैं - क्षणिक दशा, स्थायी दशा और शील दशा। किसी भाव की क्षणिक दशा एक अवसर पर एक ही आलंबन के प्रति होती है, स्थायी दशा अनेक अवसरों पर एक ही आलंबन के प्रति होती है और शील दशा अनेक अवसरों पर अनेक आलंबनों के प्रति होती है। क्षणिक दशा मुक्तक रचनाओं में देखी जाती है, स्थायी दशा महाकाव्य, खंडकाव्य आदि प्रबंधों में और शील दशा पात्रों के चरित्र-चित्रण में।" इस तरह आचार्य शुक्ल ने भाव की इन तीन दशाओं का वर्णन करके आधुनिक काव्य की समीक्षा में रस सिद्धांत के प्रयोग की भूमिका तैयार की, साथ ही भावों को मनोवैज्ञानिक आधार भी दिया। इससे एक तरफ उन्होंने रस को अध्यात्म के स्तर से नीचे उतारकर मानसिक सत्ता के रागात्मक प्रसार की परिधि में ला दिया और दूसरा विभाव, अनुभाव और संचारी की गिनती गिनाने वाली शास्त्रीय स्थिति की संकुचित काव्यपरंपरा से अलग करके उन्होंने अपनी व्याख्या के द्वारा उसे वाह्य प्रकृति के नाना रूपों और मानव जीवन की विविध मार्मिक स्थितियों के साथ रागात्मक सामंजस्य गठित करने वाली शुद्ध अनुभूति के रूप में व्याख्यायित करके आधुनिक युगबोध के अनुकूल नई अर्थवत्ता प्रदान की।

रसांगो में 'विभाव' को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। काव्य में इसी के अंतर्गत कवि कल्पना का भरपूर उपयोग कर सकता है। 'विभाव' के अंतर्गत उन्होंने आश्रय, आलंबन एवं उद्दीपन - इन तीनों को ही रखा है। रस-परिपाक के लिए मूल वस्तू है 'विभाव' विधान। इसमें कवि को पूरी सतर्कता बरतनी चाहिए एवं 'विभाव' में आलम्बन प्रधान वस्तु है। अपने मर्यादावादी और नैतिक रुझान के कारण उनका मानना है कि, आलम्बन का लोकधर्मी होना नितांत आवश्यक है। आलंबन के लोकधर्मी होने पर ही विभाव-विधान की पूर्णता मानी जा सकती है। 'अनुभाव' के अंतर्गत वे केवल आश्रय की चेष्टाएँ ही ग्रहण करते हैं क्योंकि आश्रय की चेष्टाओं का उद्देश्य किसी मनोगत - भाव को अभिव्यक्त करना होता है। दूसरी तरफ, आलंबन की चेष्टाओं को वे 'हाव' के अंतर्गत रखना उचित समझते हैं। क्योंकि इन चेष्टाओं का उद्देश्य आलंबन के सौंदर्य की वृद्धि करना मात्र होता है।

संचारी भावों को स्पष्ट करते हुए आचार्य शुक्ल का मत हैं कि, जो भाव ऐसे हैं जिन्हें किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों के समान अनुभव कर सकते हैं, ऐसे भाव तो प्रधान-भाव हैं, शेष भाव और आवेग 'संचारी भावों' के अंतर्गत रखे गए हैं। इस मान्यता का आधार यह है कि आश्रय के मन में ऐसे भावों का उदय होने में दर्शकों के मन में भी इनका उदय नहीं हो पाता। अतः यह भाव संक्रामक नहीं है। और क्योंकि यह संक्रमण नहीं कर सकते, इसीलिए यह प्रधान भागों की कोटि से अलग हैं। इस तरह, आधुनिक संदर्भो में 'रस सिद्धांत' को सर्वाधिक उपयुक्त समझते हुए वे रसांगों का मनोविज्ञान की दृष्टि से वर्णन और विवेचन करते हैं।

इसके बाद वे 'रस-दशा' का स्वरूप व्यक्त करते हैं। ह्रदय की मुक्तअवस्था को आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'रस दशा' कहते हैं। उनके अनुसार जब मनुष्य अपने निजी हानि-लाभ तथा सुख-दुख आदि भावनाओं से ऊपर उठकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-ह्रदय हो जाता है। ह्रदय की इसी मुक्त अवस्था को ही उन्होंने 'रस दशा' कहा हैं। उनके अनुसार, "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार ह्रदय की यह मुक्तावस्था 'रसदशा' कहलाती है। ह्रदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते है।" इस तरह 'रसदशा' में व्यक्ति की सत्ता, लोकसत्ता में समाहित हो जाती हैं। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति हो जाती है। यही स्थिति अभेद-भाव की वह स्थिति है जिस पर साधारणीकरण चरितार्थ होता है। इसी बिंदु पर आकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपनी साधारणीकरण की अवधारणा को भी स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार "जहाँ आचार्यो ने पूर्ण रस माना है, वहां तीन ह्रदयों का समन्वय चाहिए। आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ हो सकता है।" साधारणीकरण को स्पष्ट करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं, "जब तक किसी भाव का आलंबन हो सके, तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।" अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आता है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलंबन होता है वैसे ही सब सह्रदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन हो जाता है।"

इस तरह साधारणीकरण से तात्पर्य है, भावविशेष का आश्रय से लेकर सह्रदय तक सामान्यीकरण। यहाँ यह प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि साधारणीकरण वास्तव में होता किसका है। जिसे स्पष्ट करते हुए आचार्य शुक्ल मानते हैं कि "साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा-बहुत होता है।" यद्यपि आचार्य शुक्ल की इस अवधारणा से डॉ. नगेंद्र सहमत नहीं है और उनके अनुसार साधारणीकरण आलंबन का नहीं होता बल्कि कवि की अपनी अनुभूति का होता है। अर्थात जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकता है कि वह सभी के ह्रदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति विद्यमान है।

ह्रदय की मुक्तावस्था ही 'रस दशा' है। परंतु 'रस दशा' की प्रक्रिया सदैव एक सी घटित नहीं होती। इसी आधार पर वे रस-कोटियाँ भी निर्धारित करते हैं। पूर्ण रस-परिपाक तभी संभव है, जब कवि, उसके द्वारा वर्णित पात्र और फिर श्रोता या पाठक में भाव की अनुभूति समान रूप से संभव हो। इसी को उन्होंने तीनों के ह्रदयों का पूर्ण सामंजस्य माना है। यह स्थिति रस की उत्तम कोटि हैं। इसके अलावा वे रस की मध्यम और निकृष्ट कोटियाँ भी मानते हैं। रस की मध्यम कोटि वहाँ होती है जहां पाठक या श्रोता का तादात्म आश्रय के साथ नहीं हो पाता। प्राचीन आचार्यों ने इस स्थिति को रसाभास के रूप में वर्णित किया है। जबकि शुक्ल जी इसे रस की मध्यम कोटि मानते हैं एवं इसी कोटि के भीतर वे 'भावोदय', 'भावसंधि', 'भाव सबलता', 'भावशांति', 'भाव-दशा', 'शीलदशा' तथा विभावानुभाव सहित संचारी भावों के स्वतंत्र वर्णन को भी समाहित करते हैं। उनका मानना है कि इन रसाभास उत्पन्न करने वाली सभी स्थितियों में पाठक या श्रोता आश्रय द्वारा व्यक्त भाव के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता। वह उसका शीलदृष्टा-मात्र रहता है। शीलदृष्टा के रूप में भी वह जो प्रभाव ग्रहण करता है, वह रसात्मक ही होता है। इसीलिए इसे रस-कोटि के बाहर नहीं माना जा सकता।

रस की इस मध्यम कोटि की कल्पना करके आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रस-सिद्धांत को अत्यंत विस्तृत कर दिया और व्यक्ति वैचित्र्य या शील वैशिष्ट्य को महत्व देने वाली रचनाओं की को रस सिद्धांत की परिधि में ला दिया। आचार्य शुक्ल रस की एक अन्य कोटि, निकृष्ट कोटि भी मानते हैं। चमत्कारवादियों की कुतूहल-वृत्ति को तुष्ट करने वाले चित्र और कूट-काव्यों को वे इस श्रेणी के अंतर्गत रखते हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया रस-कोटियों का यह निर्धारण अत्यंत महत्वपूर्ण है। क्योंकि रस की इन तीन कोटियों की स्थापना करके आचार्य शुक्ल ने पूर्ण रस-परिपाक में समर्थ श्रेष्ठ काव्यकृतियों के साथ ही शीलवैचित्र्य निरुपणी रचनाओं और मात्र कुतूहलवृत्ति को तुष्ट करने वाली चमत्कार-प्रधान रचनाओं को भी रस की परिधि में ला दिया। इसके पीछे उनकी यह दृष्टि थी कि वह रस-सिद्धांत को इतनी व्याप्ति देना चाहते थे कि वह प्राचीन और नवीन सभी प्रकार की कविताओं की समीक्षा में पूर्णतः समर्थ हो जाये।

अपनी स्वतंत्र समीक्षा-दृष्टि के विकास के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भारतीय सिद्धांतों के साथ-साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धांतो का भी सम्यक मूल्यांकन किया था। स्पष्ट है कि रस-सिद्धांत की व्यापकता के प्रति उनके मन में कोई संदेह नहीं था और उनके अन्य सभी विचारों और सिद्धांतों का विकास भी इसी अवधारणा को पुष्ट करने के लिए हुआ।

पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के सिद्धांतों में, वे सिद्धांत जिनसे रस-सिद्धांत को समर्थन और पुष्टि मिलती थी, उन्हें आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्वीकार किया है। अन्य सभी सिद्धांतों का उन्होंने निषेध किया है। इस दृष्टि से एवरक्रॉम्बी का 'प्रेषणीयता का सिद्धांत', एडीसन और कॉलरिज का 'भाव-प्रेरित कल्पनावाद', रिचर्ड्स का 'सामान्यीतकृत अनुभूतिवाद एवं कल्पनात्मक अनुभूतिवाद' आधि सिद्धांतों का उपयोग उन्होंने अपने रस संबंधी विचारों को पुष्ट करने के लिए किया है। इसके विपरीत छायावाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद, अंतश्चेतनावाद, व्यक्ति-वैचित्र्यवाद, प्रतीकवाद, संवेदनावाद तथा मूर्तिमत्तावाद आदि का उन्होंने विरोध किया है। और इस विरोध का कारण यह था कि यह सभी सिद्धांत व्यक्तिवादी-सिद्धांत थे जो उनकी रस-अवधारणा के लोकधर्मी रूप के विपरीत पड़ते थे।

४.५ लोक - मंगल की साधना का प्रतिमान

'लोकमंगल की साधना का प्रतिमान' आचार्य शुक्ल के द्वारा काव्य की सोद्देश्यता से संपन्न प्रतिमान है। इस संदर्भ में सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि 'लोक' से शुक्ल जी का तात्पर्य था? उन्होंने अपने मनोविकारों पर लिखे गए निबंधों तथा गोस्वामी तुलसीदास की समीक्षा आदि में अनेक अर्थों में 'लोक' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने 'लोक' के साथ अनेक शब्दों को जोड़कर विभिन्न सामासिक पदों की रचना की है। और इन पदों का प्रयोग करके लोक शब्द को अधिक अर्थ-संपन्न बना दिया है। 'लोक-सामान्य', 'लोक-रंजन', 'लोक-मंगल', 'लोक-संग्रह', 'लोक-जीवन', 'लोक-सत्ता', 'लोक-व्यवस्था', 'लोक-नीति' जैसे अनेक सामासिक पदों का प्रयोग उन्होंने किया है। अपने ऐसे ही निबंधों आदि में उन्होंने 'लोक' शब्द की व्याख्या करने का या उसका अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया है, जो अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग अर्थ-सामर्थ्य से युक्त है। उन्होंने 'लोक' शब्द कहीं 'जगत' के अर्थ में, कहीं समस्त मानव जाति के अर्थ में, और कहीं मानवता के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

रस सिद्धांत के विवेचन-क्रम में आचार्य शुक्ल इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि लोकमंगल का विधान करने वाले दो ही भाव हैं - करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है, जबकि प्रेम की रंजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है, रंजन का अवसर इसके पीछे आता है। अतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ऐसे काव्यों को जिनमें मंगल का विधना करने वाला भाव 'करुणा' बीज रूप में विद्‌यमान रहता है, श्रेष्ठ घोषित करके लोकमंगल की साधना को काव्य-प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित किया। इन दोनों ही भावों को वे सत्व-गुण प्रधान मानते हैं, जबकि क्रोध, भय, घृणा आदि प्रचंडभाव रजस और तमस प्रधान होते हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार करुणा और प्रेम से प्रेरित होने पर यह रजस और तमस प्रधान प्रचंड और उग्र भाव भी सुंदर हो जाते हैं।

लोकमंगल की साधना का यह प्रतिमान उनके समीक्षा-सिद्धांतों की व्यावहारिक परिणति और काव्य के उदात्त उद्देश्य की ओर ले जाने का काम करता हैं। उक्त अवधारणा को सत्यापित करने के लिए उन्होंने वाल्मीकि कृत 'रामायण' और तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' का दृष्टांत लिया है। जिसमें उन्होंने सोदाहरण यह दिखाया है, कि रावण के अन्याय और उत्पीड़न से पीड़ित समाज की रक्षा और लोकमंगल का विधान एवं स्थापना करने के लिए ही राम के अवतार के रुप में लोक-कल्याणकारी शक्ति का उदय होता है। इन महाकाव्यों में विभिन्न भाव समय-समय पर आते हैं। रावण-वध के उपरांत जब लोक तमाम

उत्पीड़नों से मुक्त हो जाता है, तदुपरांत रामराज्य की स्थापना होती है। और प्रजा के रंजन तथा सुख का समय आता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार इन महाकाव्यों में राम के अवतार से लेकर अंत तक मुख्य प्रेरक भाव करुणा है। जबकि अन्य भाव आनुषंगिक रूप से इसी की गति में समाहित होकर क्रियाशील हैं।

लोकमंगल-विधान को दृष्टि में रखकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल प्रबंधकाव्य के दो भेद स्वीकार करते हैं - पहला, लोकमंगल की साधनावस्था के काव्य और दूसरा, लोकमंगल की सिद्धावस्था के काव्य। पहले प्रकार के काव्य के प्रेरक रूप में 'करुणा' का भाव विद्यमान रहता है, जबकि दूसरे प्रकार के काव्यों में प्रेरक रूप में प्रेम का भाव होता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मानना है कि उच्चदशा का प्रेम और करुणा दोनों सत्वगुण प्रधान हैं। महाकाव्यों में अभीष्ट की सिद्धि के लिए विभिन्न विरोधी भाव एक साथ कार्यरत रहते हैं। जिसे आचार्य शुक्ल ने 'विरुद्धों का सामंजस्य' कहा है। परंतु इनकी सिद्धि अंततः लोकमंगल में ही उद्घाटित होती है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की लोकमंगल की यह अवधारणा आज भी प्रासंगिक बनी हुई है। यद्यपि उनके बाद के विभिन्न आलोचकों ने इसका रूप-परिवर्तन कर इसे अपने -अपने हित में परिवर्तित कर लिया। जैसे प्रगतिशील आलोचकों ने लोकमंगल की अवधारणा को व्यापक जन-समाज के हितों के लिए किए जाने वाले संघर्ष से जोड़कर उसे अपनी विचारधारा के अनुकूल बना लिया। तथा गैर-प्रगतिशील आलोचकों ने इसी अवधारणा के अंतर्गत 'विरुद्धों के सामंजस्य' की अवधारणा को पारंपरिक भारतीय काव्य एवं जीवन-दृष्टि की केंद्रीय विशेषता कहकर अपने साहित्य में आने वाली विविधताओं में सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि से उसे अपना लिया। आचार्य शुक्ल ने इसी प्रतिमान को दृष्टि में रखकर हिंदी की विभिन्न कालजयी रचनाओं की प्रामाणिक समीक्षा की थी। लोकमंगल की इस अवधारणा के विधान के द्वारा उन्होंने साहित्य को एक व्यापक उद्देश्य प्रदान करने का प्रयास किया।

४.६ सारांश

आधुनिक हिंदी आलोचना के विकास में आचार्य रामचंद्र शुक्लजी अत्यंत व्यापक योगदान है। इन्होने अपनी अलग-अलग दृष्टियों से समीक्षा की विभिन्न शैलियों का विकास किया और व्यवहारिक समीक्षाओं के द्वारा उनके मानक भी प्रस्तुत किए। प्राचीन भारतीय शास्त्रीय चिंतन से पूर्ण प्रेरणा ग्रहण की, उसका मूल्यांकन किया और आधुनिक संदर्भो में जो कुछ भी उपादेय था, उसे अपने ग्रंथों में प्रस्तुत किया। सामायिक संदर्भो में हो रहे चेतना के बदलावों को भी उन्होंने भली-भांति लक्षित किया और उन बदलावों को अपनी समीक्षा दृष्टि से दिशा देने का काम किया। इनके द्वारा नियत किए गए सिद्धांतों पर हिंदी आलोचना का भव्य प्रासाद खड़ा हो सका।

४.७ वैकल्पिक प्रश्न

१) 'विचार और वितर्क' निबन्ध-संग्रह के लेखक हैं?
   क) हजारीप्रसाद द्विवेदी   ख) रामचन्द्र शुक्ल
   ग) नन्ददुलारे बाजपेयी   घ) कुबेरनाथ राय

२) निम्न में से किसने रस-कोटियों का निर्धारण किया ?
   क) नामवर सिंह   ख) नन्ददुलारे बाजपेयी
   ग) हजारीप्रसाद द्विवेदी   घ) रामचन्द्र शुक्ल

३) समीक्षा कृति 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के लेखक हैं ?
   क) शिवदान सिंह   ख) नन्ददुलारे बाजपेयी
   ग) रामचन्द्र शुक्ल   घ) हजारीप्रसाद द्विवेदी

४) 'प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेषण का नाम भाव है।' यह निम्न में से किसने कहा ?
   क) डॉ. नगेन्द्र   ख) हजारीप्रसाद द्विवेदी
   ग) रामचन्द्र शुक्ल   घ) नन्ददुलारे बाजपेयी

४.८ लघु उत्तरीय प्रश्न

१) लोकमंगल का विधान करने वाले दो भाव कौनसे है ?
२) लोकमंगल की साधना को सत्याप्रित करने के लिए आ. रामचंद्र शुक्ल ने कौनसे दृष्टांत लिये है।
३) हिन्दी शब्दसागर कोश के साथ कौनसी पत्रिका का संपादन आचार्यजी ने किया ?
४) हिन्दी आलोचना के विकास में आधुनिकता काल में किन-किन आचार्यो का योगदान रहा ?

४.९ बोध प्रश्न

१) आचार्य रामचंद्र शुक्ल की प्रमुख समीक्षात्मक मान्यताओं को स्पष्ट कीजिए ?
२) आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा दिए गए रस सिद्धांत के मत का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत कीजिए।
३) आचार्य रामचंद्र शुक्लजी द्वारा लोक मंगल की साधना के प्रतिमानों का विवरण प्रस्तुत कीजिए।

४.१० अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

१) हिन्दी आलोचना के आधार स्तंभ - खंडेलवाल एवं गुप्त
२) हिन्दी आलोचना : शिखरों से साक्षात्कार - डॉ. रामचन्द्र तिवारी
३) हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली - अमरनाथ
४) हिन्दी आलोचना का विकास - नन्दकिशोर नवल
५) हिन्दी आलोचना का विकास - मधुरेश

❖❖❖❖

munotes.in

इकाई-५

आधुनिक - आलोचना
(आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी)

इकाई की रूपरेखा :

५.० इकाई का उद्देश्य
५.१ प्रस्तावना
५.२ आचार्य नंद दुलारे - परिचय एवं कृतित्व
५.३ समीक्षा सिद्धांत एवं अवधारणाएँ
५.४ सारांश
५.५ लघु उत्तरीय प्रश्न
५.६ बोध प्रश्न
५.७ अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

५.० उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप यह जान सकेंगे कि -

- आधुनिक आलोचना की विकास यात्रा
- आधुनिक हिंदी आलोचना के विकास और परिवर्तन में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का योगदान
- आधुनिक हिंदी आलोचना में किन दृष्टिकोणों का विकास

५.१ प्रस्तावना

नंददुलारे वाजपेयीजी ने किस प्रकार समीक्षात्मक दृष्टि से रीतियों, शैलियों और रचना के वाह्यांगों का अध्ययन किया, साहित्य में दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन किया। रचनात्मक विकास को उन्होंने रचनात्मक स्तर पर बल्कि व्यक्ति के स्तर पर भी अत्यंत सफलता से लक्षित किया।

munotes.in

५.२ आचार्य नंददुलारे वाजपेयी - परिचय एवं कृतित्व

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का जन्म उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के मगरायर नामक गांव में ४ सितंबर १९०६ ई. को हुआ था। उनका जन्मस्थान अवध क्षेत्र के पश्चिमी भाग का हिस्सा है और 'बैसवाडा' कहलाता है। उनका जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण समाज में हुआ था जो अपनी रूढ़िवादिता और संकीर्ण परंपराओं के लिए जाना जाता था। जब वे एक वर्ष के ही थे तभी उनके सिर से माता का साया उठ गया। उनके पिता पंडित गोवर्धनलाल बाजपेयी थे। वे प्राय: पिता के साथ जन्मस्थान से बाहर ही रहे। बीच-बीच में मगरायर जाना होता रहता था। आचार्य बाजपेयी की इंटरमीडिएट तक की शिक्षा हजारीबाग (झारखंड) से हुई, इसके बाद बी.ए. और एम.ए. उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से किया। आचार्य बाजपेयी के साहित्यिक व्यक्तित्व के विकास में काशी हिंदू विश्वविद्यालय का बड़ा योगदान रहा। यहाँ वे कई विभूतियों के संपर्के आए और यही उन पर राष्ट्रीय विचारधारा का प्रभाव पड़ा, जो जीवन भर उनके साथ चला। यहाँ न केवल उनके अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत हुआ बल्कि उनके विचारों का विकास इस तरह हुआ जो आगे चलकर उनके समीक्षात्मक लेखन की आधारभूमि बना।

विश्वविद्यालय से निकलकर आचार्य बाजपेयी के व्यावहारिक जीवन की शुरुआत सन् १९३० में हुई। सितंबर १९३० में वह लीडर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक 'भारत' नामक पत्र के संपादक बने। अपनी स्वाधीन चेतना के कारण इस कार्य में उन्हें अत्यंत सफलता मिली। पर कुछ कारणों से १९३२ के अंत में उन्होंने संपादन कार्य छोड़ दिया। इसके बाद उनके जीवन में स्थायित्व तब आया जब सन १९४१ में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के देहांत के बाद रिक्त हुए पद पर उनकी नियुक्ति हुयी। सन १९४७ तक वे यही कार्यरत रहे। इसके बाद मार्च १९४७ में उन्होंने सागर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में नियुक्ति पायी, जहाँ वे सन १९६५ तक रहे। १ अक्टूबर १९६५ को उन्होंने विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन का कुलपति पद ग्रहण किया परंतु इस पद पर वे ज्यादा समय तक नहीं रह सके और २१ अगस्त १९६७ को उनका देहांत हो गया। हिंदी समीक्षा और पत्रकारिता के क्षेत्र में उनके योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

एक समीक्षक और साहित्यकार के रूप में उन्होंने हिंदी को अनमोल कृतियां दीं। उनके द्वारा लिखे गए ग्रंथ है - 'जयशंकर प्रसाद' (१९३९), 'हिंदी साहित्यः बीसवी शताब्दी' (१९४२), 'आधुनिक साहित्य' (१९५०), 'महाकवि सुरदास' (१९५३), 'प्रेमचंद : एक विवेचन' (१९५४), 'नया साहित्य : नये प्रश्न' (१९५५), 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएं' (१९६१), 'कवि निराला' (१९६५), 'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध' (१९६५), 'प्रकीर्णिका' (१९६५), 'हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास', 'आधुनिक काव्य : रचना और विचार', 'नयी कविता' (१९७६), 'रस सिद्धांत : नए संदर्भ' (१९७७), 'आधुनिक साहित्य : सृजन और समीक्षा', 'हिंदी साहित्य का आधुनिक युग', 'कवि सुमित्रानन्दन पंत' एवं 'रीति और शैली'।

५.३ समीक्षा एवं अवधारणाएँ

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी उन अर्थों मे समीक्षक नहीं थे जिन अर्थों में कोई सिद्धांत रचना करता है। उनकी समीक्षा के सूत्र हमें उनके द्वारा लिखे गए निबंधों में मिलते हैं। यह निबंध जहाँ परंपरा के पुनर्मूल्यांकन से संबंधित हैं वहीं इनमें आधुनिक साहित्य-यात्राओं के अनुभव भी सम्मिलित हैं। उनके समीक्षा संदर्भो को इन्हीं निबंधों के माध्यम से पाया जा सकता है। अपनी पहली कृति 'जयशंकर प्रसाद' की भूमिका में अपनी समीक्षा के संदर्भो को खोलते हुए वे लिखते हैं, "मैं तो साहित्य में रचनाकार की अंत:प्रेरणा का अनुसंधान करने में ही व्यस्त हूँ, इसी के साथ-साथ संक्षेप में वाह्य स्थितियों का दिग्दर्शन करा देना और उन पर रचनाकार की प्रतिक्रिया दिखा देना तथा अंत में उसकी कलात्मक चेष्टाओं का परिचय दे देना, बस समझता हूँ।" इस तरह जयशंकर प्रसाद की भूमिका से लिए गए इस उद्धरण से हम उनकी प्रारंभिक समीक्षा के कुछ बिंदुओं को समझ सकते हैं - पहला, रचनाकार की अंत:प्रेरणा का निरीक्षण; दूसरा, रचनाकार का परिवेश और रचनाकार की प्रतिक्रिया; और तीसरा, रचनाकार की कलात्मक चेष्टाएँ। ये तथ्य उनकी समीक्षा का प्रस्थान बिंदु हैं।

अपने सतेज व्यक्तित्व के साथ एक समीक्षक के रूप में उनकी पहचान उनकी दूसरी कृति 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' से बनती है। इस कृति के कुछ निबंध 'भारत' पत्र में भी प्रकाशित हो चुके थे। यह कृति सामायिक साहित्य के साथ उनकी अंर्तयात्रा है। इस कृति की भूमिका में भी उन्होंने अपने समीक्षा संदर्भों की चर्चा की है, जो उनके और पुष्ट अनुभव को व्यक्त करते हैं। यह निम्नलिखित हैं -

१. रचना में कवि की अंतरवृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष - अपकर्ष) का अध्ययन;
२. रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता - विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन;
३. रीतियों, शैलियों और रचना के वाह्यांगों का अध्ययन;
४. समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन;
५. कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस विश्लेषण)
६. कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन;
७. कवि के जीवन-संबंधी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन;

उनके इन संदर्भों से उनके समीक्षक रूप को और व्यापकता मिलती है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी परंपरा से ज्यादा अपने समसामायिक अनुशीलन के कारण हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में जाने जाते हैं। छायावाद का उचित महत्व के साथ स्थापन उन्हीं की देन है। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानंदन पंतं को सर्वप्रथम उन्होंने ही नई चेतना के वाहक कवियों के रूप में देखा था। उनकी समीक्षा-दृष्टि अत्यंत संतुलित थी। वह किसी साहित्यकार के योगदान को उसके रचनाकर्म में ही देखते थे न कि बाहरी सिद्धांतों की छाया में उनकी परख करते थे। उनकी समीक्षा दृष्टि अत्यंत सूक्ष्म थी। उन्होंने अपने समय की महत्वपूर्ण कृतियाँ, प्रवृत्तियों और रचनाकारों पर जो मत व्यक्त किया है, वय अत्यंत संतुलित है। 'हिंदी साहित्य : बीसवी शताब्दी' में जिन समकालीन रचनाकारों का विवेचन उन्होंने प्रस्तुत किया है उनमें आचार्य महावीर प्रसाद दिववेदी, जगन्नाथदास रत्नाकार, मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, जैनेंद्र कुमार आदि प्रमुख हैं।

उनके समीक्षात्मक निर्णय अत्यंत स्पष्ट होते थे। द्विवेदी युग और छायावादी युग के अंतर को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि 'गुप्तजी (मैथिलीशरण गुप्त) की कविताओं में एक विनयपूर्ण सीधा-साधा आदर्शवाद, जिसमें आरंभिक राष्ट्रीयता का मीठा-मीठा स्पंदन है। कल्पना की ऊंची उड़ानों से रहित अनुभूति, द्वंद्वरहित भाव और इकहरी अभिव्यक्ति है। इसमें किसी जीवन तत्व का वैषम्य, आलोड़न-विलोड़न, संशय और तज्जनित भावोत्कर्ष आयोजित नहीं है। सीधा रास्ता, सीधी समस्या और सीधा समाधान।' एक अन्य कृति आधुनिक साहित्य में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के योगदानों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं, 'विचारों के क्षेत्र में नई और बहुमुखी सामग्री एकत्र करने का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को है। जिन्होंने हिंदी के लिए भाषा संबंधी एक नया प्रतिमान भी प्रस्तुत किया है। नए विचार और नयी भाषा, नया शरीर और नया पोशाक दोनों ही नयी हिंदी को द्विवेदी जी की देन हैं। इसी कारण वे नई हिंदी के प्रथम और युग प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं। इस तरह आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की दृष्टि समसामयिक थी और अपने समय में हो रहे रचनात्मक विकास को उन्होंने न केवल रचनाओं के स्तर पर बल्कि व्यक्ति के स्तर पर भी अत्यंत सफलता से लक्षित किया है।'

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी को स्वच्छंदतावादी समीक्षक माना जाता है। इसका कारण यह है कि हिंदी में स्वच्छंदतावाद अथवा छायावाद को प्रतिष्ठा दिलाने का और समीक्षा की दृष्टि से उसका उपयुक्त मूल्यांकन करने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त है। परंतु स्वच्छंदतावाद के अतिरिक्त हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में उन्होंने अत्यंत व्यापक स्तर पर काम किया। परंपरागत थाती का मूल्यांकन किया, समसामयिक संदर्भों को उस थाती के साथ संबद्ध किया। इस तरह हिंदी आलोचना की परंपरा को उन्होंने एक सूत्र में बांधने का काम किया। समीक्षा के क्षेत्र में उनकी दृष्टि अत्यंत ही संतुलित थी। न तो उन्होंने पूरी तरह से परंपरा का समर्थन किया और न हर आधुनिक प्रवृत्ति का, बल्कि उनकी अपनी मान्यताओं के अनुसार जो भी उन्हें रुचा, उसे उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में स्थान दिया। समसामयिक संदर्भ में उनके दृष्टिकोण को देखें तो जहां उन्होंने कलात्मकता की दृष्टि से छायावादी सौंदर्यबोध की प्रशंसा की, वहीं प्रयोगवादी प्रवृत्ति की उन्होंने निर्मम आलोचना भी की। उसकी अति-बौद्धिकता और वैचित्र्य-प्रियता के कारण उन्होंने उसका समर्थन नहीं किया बल्कि निर्मम आलोचना करते हुए वे कहते हैं, 'प्रयोगवाद हिंदी में बैठे-ठाले का धंधा बन कर आया था। प्रयोक्ताओं के पास न तो काव्य संबंधी कोई कौशल था और न किसी प्रकार की कथनीय वस्तु थी।' दरअसल इस निर्ममता का कारण आचार्य बाजपेयी का जीवन और कविता संबंधी दृष्टिकोण है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के समसामयिक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करने वाली उनकी एक अन्य कृति 'आधुनिक साहित्य' है। काव्य, उपन्यास-कहानी, नाटक, गद्य, समीक्षा, साहित्य धाराएं, मत और सिद्धांत जैसे सात खंडो में विभाजित यह उनकी सबसे बड़ी कृति है। इसमें कामायनी से लेकर नई कविता तक का विवेचन है। कथा साहित्य की दृष्टि से प्रेमचंद से लेकर नई कहानी तक का वर्णन है। नाटक खंड के अंतर्गत प्रसाद के नाटकों के विश्लेषण के अतिरिक्त भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य चिंतन के विषय में कुछ सैद्धांतिक प्रश्न भी उनके द्वारा उठाए गए हैं। समीक्षा खंड में छायावादी काव्यदृष्टि से लेकर नई समीक्षा प्रणाली तक पर विचार किया गया है। साहित्य धाराओं के अंतर्गत छायावाद, प्रगतिवाद आदि का विवेचन है। मत और सिद्धांत में भारतीय काव्यमत ध्वनि और रस, आदर्श और यथार्थ जैसे सैद्धांतिक प्रश्नों पर उन्होंने अपने विचार व्यक्त किए हैं। इस तरह आचार्य बाजपेयी की समीक्षा दृष्टि अपने समसामयिक संदर्भों में कही अधिक रमी है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने साहित्य की समसामयिक चेतना की तो गहरी परख की ही है साथ ही, उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का भी न केवल गहरा अध्ययन किया बल्कि उसमें जो कुछ भी उपयोगी था, उसे ग्रहण करने में भी संकोच नहीं किया। भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में रस-सिद्धांत अत्यंत व्यापक सिद्धांत है। उन्होंने रस-सिद्धांत पर भी नई दृष्टि से विचार किया और इस संबंध में उनके विचार 'रस सिद्धांत : नए संदर्भ' पुस्तक में देखे जा सकते हैं। रस सिद्धांत को वे काव्यदृष्टि का परिमार्जन कहते हुए रस को आस्वादार्थक शब्द मानते हैं। वे कहते हैं, 'रस के निष्पादक विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की व्याख्या द्वारा भरतमुनि ने एक और लोकजगत से काव्यजगत की विशिष्ट सत्ता स्थिर की और दूसरी ओर काव्य उपकरणों का विशद रूप से निर्देश किया है। यही वह काव्यशास्त्र की आधारशिला है जिस पर भारतीय काव्यशास्त्र का प्रासाद खड़ा किया गया है और यही रस तत्व के विधायक मौलिक सूत्र की विशिष्ट परिकल्पना है।' आज के समय में रस सिद्धांत की प्रासंगिकता को लेकर वे मानते हैं कि 'रस अंततः सामाजिक अनुभूति है।'

भारतीय साहित्य सिद्धांतों के साथ-साथ उन्होंने प्लेटो, अरस्तू, लोंजाइनस, शेली, कॉलरिज, क्रोचे आदि का भी गंभीर अध्ययन किया और उनके संबंध जमें भी बड़े मौलिक और व्यापक सूत्र दिए। क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इस मत का कि 'वह काव्य और जीवन का घनिष्ठ संबंध प्रदर्शित नहीं करता है', के विरोध में आचार्य बाजपेयी ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि 'क्रोचे की दृष्टि में जीवन संबंधी और काव्य संबंधी अनुभूति दो प्रथक वस्तुएँ नहीं हैं। जीवन की अनुभूतियां ही काव्य अनुभूति का स्वरूप धारण करती हैं। जिस कवि की जीवन अनुभूति जितनी विशद और तीव्र होगी उसकी काव्य रचना भी उतनी ही प्रशस्त और मार्मिक होने की संभावना रखेगी। अतएव यह कहना संगत नहीं कि क्रोचे के मत में काव्य और जीवन का घनिष्ठ संबंध प्रदर्शित नहीं है।' इस तरह आचार्य बाजपेयी ने मौलिक दृष्टि से भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांतों का भी मूल्यांकन किया और रामचंद्र शुक्ल जैसे प्रतिष्ठित समीक्षकों से अंतर्विरोध होने पर अत्यंत सशक्त ढंग से अपने मत को सतर्क सामने रखा। यह उनके गहन अध्ययन और मौलिक समीक्षा दृष्टि का परिणाम है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की महत्वपूर्ण मान्यता यह है कि वे साहित्य के मूल उत्स को 'आत्मानुभूति' के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार साहित्य मात्र में मूल में अनुभूति या भावना कार्य करती है। उनके अनुसार अनुभूति एक व्यापक तत्व है, जिसे भारतीय काव्यशास्त्र के ध्वनि सिद्धांत में स्पष्ट किया गया है। वे कहते हैं, 'ध्वनि सिद्धांत इसी तत्व पर प्रकाश डालता है कि काव्य और साहित्य की बाहरी रूपरेखा के मर्म में आत्मानुभूति या विभावान व्यापार ही काम करता है। काव्य की संपूर्ण विविधता के भीतर एकात्म्य स्थापित करनेवाली यही शक्ति है। संपूर्ण काव्य किसी रस की अभिव्यक्ति करता है, और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और यह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्‌गम प्राप्त करता है। काव्यानुभूति को आचार्य बाजपेयी एक अखंड आत्मिक व्यापार के रूप में स्वीकार करते हैं और समस्त साहित्य के मूल में इस अनुभूति या आत्मिक व्यापार का प्रसार मानते हैं। जिसके निर्माण में असंख्य सामाजिक या सांस्कृतिक परिस्थितियों का योगदान हो सकता है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने व्यवहारिक समीक्षा से संबंधित अपनी पुस्तकों 'महाकवि सूरदास', 'हिंदी साहित्यः बीसवी शताब्दी' 'जयशंकर प्रसाद', 'कवि निराला', 'कवि सुमित्रानंदन पंत' 'प्रेमचंद' तथा 'नई कविता' आदि कृतियाँ में इसी अनुभूति पक्ष पर बल दिया है। उनका मानना है कि रचना जीवन से अपनी सामग्री प्राप्त करती है, पर काव्य में वह तभी उपयोगी है जब कवि के संवेदन का

हिस्सा बनकर आये। यही वह बिंदु है जहां पर वह रचना की स्वतंत्र स्थिति को स्वीकार करते हैं।'

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की समीक्षा में हमें एक उदारता देखने को मिलती है। वे यह मानकर चलते हैं कि समय के साथ आलोचक की मान्यताओं में परिवर्तन होता रहता है या समयानुकूल परिवर्तन होता रहना चाहिए। इन परिवर्तनों का मुक्त ह्रदय से स्वागत किया जाना चाहिए। आलोचना के क्षेत्र में रूढ़ियों की स्थापना नई दिशाओं के प्रति संकट उत्पन्न करती है। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण उनका अपने पूर्व समीक्षकों या समकालीन समीक्षकों से मतभेद भी होता रहा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कई मान्यताओं को उन्होंने तर्क के साथ खंडित किया और आलोचना को सही दिशा देने का प्रयास किया। उनका मानना है कि जब बनी-बनायी मान्यताओं के आधार पर किसी कवि से कोई विशेष अपेक्षाएं की जाने लगती है, तो कविता का सौंदर्य हमारी पहुंच से बाहर हो जाता है। इसे उनके इस कथन से भलीभांति समझा जा सकता है। वे लिखते है, 'जबसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने शक्ति, सौंदर्य और शील की पराकाष्ठा रामचरित्र में दिखायी है, तब से लोगों ने समझ लिया है कि यह तीनों गुण काव्य–चरित्रों के लिए अनिवार्य हैं और जहाँ कही अवसर आए इसकी और इंगित कर देना चाहिए। यह भांति कला की विवेचना में अत्याधिक बाधक हुई हैं। केवल शक्ति की, सौंदर्य की अथवा शील की पराकाष्ठा दिखाना किसी काव्य का लक्ष्य नहीं हो सकता। काव्य का लक्ष्य तो होता है, रस-विशेष की प्रतीति या अनुभूति उत्पन्न करना।' इस तरह आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की मान्यता को परिवर्तित कर हिंदी आलोचना का भला ही किया।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने अपने समय से जुड़े भाषा और साहित्य के विभिन्न प्रश्नों पर न केवल गंभीरता से विचार किया बल्कि अपनी समन्वयवादी प्रवृत्ति के अनुसार कोई न कोई समाधान भी प्रस्तुत किया। उनकी समन्वयवादी प्रवृत्ति को हम उनकी विभिन्न आलोचकीय मान्यताओं के रूप में देख सकते हैं। राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर होने वाली कुत्सित राजनीति के संदर्भ में भी उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे उठाए और समाधान देने का प्रयास भी किया। इस प्रश्न को राजनीति से जोड़ दिए जाने से वे कुछ आहत थे परंतु उनकी अपनी मान्यता यह थी कि, यद्यपि भारत की सभी भाषाएं अपना महत्व रखती हैं और उनकी समृद्ध रचना परंपरा है, पर फिर भी भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश को जहाँ अनेक भाषाएं है, एक संपर्क भाषा चाहिए ही चाहिए और अधिसंख्यक समाज की भाषा होने के कारण हिंदी ही वह भाषा हो सकती है। भाषा संबंधी ऐसे प्रश्नों के संबंध में उन्होंने जो निबंध या संस्मरण लिखे, वे 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएं' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। हिंदी के महत्व को व्यक्त करते हुए अपने निबंध 'हिंदी का भ्रामक विरोध' में बेहद संतुलित निष्कर्ष देते हुए आचार्य बाजपेयी लिखते हैं, 'हिंदी के बोलने वालों का किसी भाषा से विरोध नहीं हैं। हिंदी का अन्य भाषाओं से एक सजातीय संबंध है। मेरा केवल इतना ही कहना है कि यह कार्य गांधी जी ने प्रारंभ किया था। उन्होंने राष्ट्र चेतना से प्रभावित होकर हिंदी के ऊपर जोर दिया। उस स्थिति में राष्ट्र की एकता के लिए यह कार्य चलाया गया था।'

इस तरह आचार्य बाजपेयी को हम हिंदी के ऐसे समीक्षक के रुप में याद रख सकते हैं कि उन्होंने एक तरफ परंपरा के पुनर्मूल्यांकन का कार्य किया तो दूसरी तरफ आधुनिक संदर्भो में रचे जा रहे साहित्य की सही परख की। आलोचना की नई प्रवृत्तियों का वर्णन किया। इस रूप में उन्होंने अपने बेहद संतुलित दृष्टिकोण का विकास किया और व्यावहारिक आलोचना में उसका

munotes.in

निदर्शन हमें देखने को मिलता है। स्वच्छंदतावादी समीक्षक के रूप में तो वह ख्यातिलब्ध हैं ही। परंतु छायावाद के महत्व स्थापन के साथ-साथ उन्होंने निराला, पंत और प्रसाद का मूल्यांकन जिस तरह से किया वह अन्यत्र दुर्लभ है। भक्तकवि सूरदास के संदर्भ में भी उनकी स्थापनाएँ अत्यंत मौलिक और महत्वपूर्ण हैं। अपने समय की साहित्यिक प्रवृत्तियों की अत्यंत प्रामाणिक पहचान भी उनके द्वारा की गयी। उन्होंने हिंदी आलोचना को जो दिशा दी, उस पर आगे चलकर समीक्षा समृद्ध ही हुयी है।

५.४ सारांश

आधुनिक हिन्दी आलोचना के विकास में आचार्य नंददुलारे वाजपेयीजी का व्यापक योगदान है। इन्होंने विभिन्न शैलियों का विकास किया और व्यावहारिक समीक्षाओं के द्वारा उनके मानक भी प्रस्तुत किए इन्होंने प्राचीन भारतीय शास्त्रीय चिंतन से पूर्ण प्रेरणा ग्रहण की, उसका मूल्यांकन किया और आधुनिक संदर्भो में जो कुछ भी उपादेय था उसे अपने ग्रंथों में प्रस्तुत किया।

munotes.in

५.५ लघु उत्तरीय प्रश्न

१) नंददुलारे वाजपेयी एक समीक्षक
२) नंददुलारे वाजपेयी का दार्शनिक दृष्टिकोण
३) नंददुलारे वाजपेयी स्वच्छंदात्मक समीक्षक
४) नंददुलारे वाजपेयी द्वारा द्विवेदी युग और छायावादी युग का अंतर

५.६ बोध प्रश्न

१) छायावाद की प्रतिष्ठा में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
२) आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के समसामयिक दृष्टिकोण का विस्तार से वर्णन कीजिए।
३) आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का सविस्तर वर्णन कीजिए।

५.७ अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

१) हिन्दी आलोचना के आधार स्तंभ - खंडेलवाल एवं गुप्त
२) हिन्दी आलोचना : शिखरों से साक्षात्कार - डॉ. रामचन्द्र तिवारी
३) हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली - अमरनाथ
४) हिन्दी आलोचना का विकास - नन्दकिशोर नवल
५) हिन्दी आलोचना का विकास - मधुरेश

❖❖❖❖

इकाई-६

आधुनिक आलोचना (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी)

इकाई की रूपरेखा :

६.० इकाई का उद्‌देश्य
६.१ प्रस्तावना
६.२ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - परिचय एवं कृतित्व
६.३ समीक्षा सिद्धांत व अवधारणाएँ
६.४ सारांश
६.५ लघुउत्तरीय प्रश्न
६.६ बोध प्रश्न
६.७ अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

६.० इकाई का उद्‌देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप यह जान सकेंगे कि,

- आधुनिक युग की समीक्षा पद्धति
- आधुनिक युग आलोचना के विकास में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी का योगदान
- आधुनिक हिन्दी आलोचना में द्विवेदीजी का दृष्टिकोण

६.१ प्रस्तावना

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने किस प्रकार हिन्दी साहित्य जगत में नए प्रतिमानों की स्थापना की उनके निर्माण का अथक प्रयास और उसके विकास में शामिल हुए। द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य जगत में आलोचनात्मक दृष्टि को समृद्ध किया इनके प्रयासों के कारण हिन्दी साहित्य की अपनी एक आलोचना दृष्टि का विकास हुआ।

munotes.in

६.२ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - परिचय एवं कृतित्व

हिंदी के महान और कृती व्यक्तित्व आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी बहुआयामी व्यक्तित्व के स्वामी थे। वे श्रेष्ठ इतिहासकार, शोधकर्ता और सर्जक थे। उन्होंने जीवन भर संघर्ष किया और सरस्वती के सच्चे उपासक बनकर उभरे। हिंदी में उनका अपना एकमेव व्यक्तित्व है। वह ऐतिहासिक-सांस्कृतिक चेतना से संपन्न समीक्षक हैं। उनका सृजन और समीक्षा मानवतावादी दृष्टि से संपन्न है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के आतर दुबे परिवार में छपरा के ओझवलिया नामक गांव में सन १९०७ इ. में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री अनमोल द्विवेदी और माता का नाम श्रीमती ज्योतिषमति था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बचपन का नाम वैद्यनाथ द्विवेदी था। इस सरस्वती पुत्र का प्रारंभिक जीवन बड़े अभावों और कष्टों में बीता। इन अभावों और कष्टों को काटते हुए उन्होंने अपना विनम्र व्यक्तित्व निर्मित किया। उन्होंने संस्कृत साहित्य में शास्त्री की शिक्षा सन् १९२९ में पूरी की और उसी वर्ष १९२९ ई. में ही उन्होंने इंटरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण की थी उनकी औपचारिक शिक्षा बस यहीं तक थी। तदुपरांत उन्होंने अपने स्वाध्याय और शोध से अपना निर्माण किया।

सन १९३० में वे शांति निकेतन में हिंदी अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए, जिसे वे द्विवजत्व की प्राप्ति अर्थात दूसरे जन्म की प्राप्ति की संज्ञा देते हैं। इस शांतिनिकेतन में वे अगले बीस वर्षों तक रहे। यहाँ रहते हुए उन्होंने अभिनव भारती ग्रंथ माला का संपादन तथा विश्व भारती पत्रिका का संपादन किया। इस दौरान उन्होंने कई ख्यात ग्रंथों की रचना की। 'सूर साहित्य', 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'कबीर' एवं 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आदि ग्रंथ शांतिनिकेतन में रहते हुए ही रचे गए और प्रकाशित भी हुए।

सन १९५० में वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रोफेसर अध्यक्ष के रूप में आए। जहां वे अगले दस वर्षों तक रहे। यहां की कुत्सित राजनीति का शिकार होकर अंततः सन १९६० में उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में हिंदी विभाग के प्रोफेसर - अध्यक्ष के रूप में नया आश्रय पाया, जहां १९६७ तक वे रहें। सन् १९६७ ई. में वे पुनः काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष होकर पहुंचे, जहां वे लगभग दो वर्षों तक रहे। यही उनका अकादमिक लेखा-जोखा है। इसके अलावा उन्होंने विभिन्न संस्थाओं के महत्वपूर्ण पदों को सुशोभित किया। सन १९५० से १९५३ तक विश्व भारती विश्वविद्यालय की एग्जीक्यूटिव काउंसिल के सदस्य रहे, सन १९५२-५३ में वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष रहे, सन् १९५५ में वे अखिल भारतीय हिंदी परिषद के अध्यक्ष रहे, राजभाषा आयोग के राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सदस्य भी बने, सन १९७० में उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी के अध्यक्ष बने।

उन्होंने न केवल अकादमिक स्तर पर अपनी महत्वपूर्ण सेवाएं दी बल्कि वे सृजनधर्मी व्यक्ति थे। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन के अतिरिक्त अपने शोधपूर्ण ग्रंथों एवं सृजनात्मक साहित्य से हिंदी को समृद्ध किया। ऐसे कृतत्ववान व्यक्तित्व का १८ मई १९७९ को दिल्ली में निधन हो गया।

munotes.in

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने समीक्षा पर अलग से शास्त्रीय ग्रंथों की रचना नहीं की है, बल्कि उनके निबंधों, शोधसंबंधी ग्रंथों, आलोचना एवं इतिहास ग्रंथों में उनकी साहित्यिक मान्यताओं का परिचय हमें मिलता है। एक उपन्यासकार के रूप में उनके चार उपन्यास हमें प्राप्त हैं, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६), 'चारुचंद्र लेख' (१९६३), 'पुनर्नवा' (१९७३), 'अनामदास का पोथा' (१९७६)। एक निबंधकार के रूप में उनके छः निबंध संग्रह 'अशोक के फूल', 'विचार और वितर्क', 'कल्पकता', 'कुटज', 'आलोकपर्व', 'विचारप्रवाह' हिंदी की अमूल्य संपत्ति हैं। उनके इतिहास ग्रंथों में 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', 'हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास' आदि का कालजयी महत्व है।

वे पहले समीक्षक और विचारक थे, जिन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे स्थापित समीक्षक की मान्यताओं को चुनौती दी थी। संतकवि कबीर को उनका वास्तविक महत्व दिलाने का श्रेय उन्हीं की पुस्तक 'कबीर' (१९४१) को है। इसके अतिरिक्त सूर साहित्य मध्यकालीन बोध का स्वरूप सहज साधना मध्यकालीन धर्म साधना, नाथ संप्रदाय, सिख गुरुओं का पुण्य स्मरण, मेघदूत एक पुरानी कहानी, कालिदास की लालित्य योजना, मृत्युंजय, रविंद्र लालित्य तत्व साहित्य का मर्म साहित्य का साथी प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद जैसी पुस्तकें प्रकाशित हैं।

६.३ समीक्षा सिद्धांत एवं अवधारणाएँ

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसा विद्वान व्यक्तित्व सदियों में एक बार जन्म लेता है। उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और मानवतावादी है। अपनी इतिहास संबंधी मान्यताओं के कारण वे अपने पूर्ववर्तियों से बिल्कुल भिन्न और आगे बढ़े हुए हैं। उनकी दृष्टि में इतिहास केवल अतीत की ओर देखना ही नहीं है, बल्कि उसे वे जीवंत शक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने समूचे भारतीय साहित्य का गहन अध्ययन किया था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य एवं समस्त भारतीय शास्त्रों का पूरी निष्ठा के साथ अध्ययन करके उन्होंने उसमें केंद्रीभूत सत्य को तलाशने का काम किया था और वे सारे शास्त्र चिंतन का साध्य अंततः मानव-कल्याण को ही मानते थे। समीक्षक रामचंद्र तिवारी लिखते हैं, 'यही कारण है कि वह चाहे साहित्य के मर्म पर विचार कर रहे हों, चाहे मानव धर्म पर, चाहे भारत की सांस्कृतिक समस्या के विषय में सोच रहे हों, चाहे मौलिकता के प्रश्न पर, चाहे सहज भाषा की व्याख्या कर रहे हों, चाहे साहित्य के इतिहास की, चाहे विकासवाद समझा रहे हों, चाहे मार्क्सवादः घूम-फिर कर मानव मुक्ति की समस्या पर आ जाते हैं। मनुष्यता की श्रेष्ठता मनुष्य की एकता और अंततः मनुष्य की मुक्ति पर उनका अखंड विश्वास है।' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का संपूर्ण कृतित्व उनकी इन्हीं विशेषताओं की ओर संकेत करता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्य और आलोचना संबंधी मान्यताएँ मुख्य रूप से उनके विचार प्रधान निबंधों और 'लालित्य तत्व', 'साहित्य का मर्म', 'साहित्य का साथी' जैसी कृतियों में देखने को मिलती हैं। साहित्य के उद्देश्य को लेकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की

अपनी एक धारणा हैं। उनके अनुसार 'साहित्य वह है जो मानव ह्रदय को उदात्त बनाता है। उसे पशुत्व से उठाकर देवत्व की ओर अग्रसर करता हैं। और इस ध्येय की प्राप्ति के लिए जो कुछ भी रचा जाता है वह साहित्य है।' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की यथार्थ को लेकर भी अपनी अलग मान्यता है। वे साहित्य में उस यथार्थ को पसंद नहीं करते जो नग्नता का प्रदर्शन करके मनुष्यता को कुंठित करता हैं। उनके लिए कुत्सित यथार्थ यथार्थवादी लेखन नहीं है, बल्कि वह यथार्थवादी कौशल है। साहित्य का लक्ष्य कुछ और है, जिसे व्यक्त करते हुए वे कहते हैं, 'लक्ष्य है मनुष्य जीवन के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करके मनुष्यता के वास्तविक लक्ष्य तक ले जाने का संकल्प। मनुष्यों के दुखों को अनुभव करा सकने वाली दृष्टि की प्रतिष्ठा और ऐसे दृढ़चेता आदर्श चरित्रों की सृष्टि जो दीर्घकाल तक मनुष्यता को मार्ग दिखाते रहें।' वे मानते हैं कि वर्तमान समय में साहित्य में मनुष्य के सामूहिक कल्याण की दृष्टि महत्वपूर्ण हो गई हैं। वे इस दृष्टि को पुरानी साहित्यिक परंपरा में भी स्वीकार करते हैं और इसीलिए परंपरा की महत्व स्थापना करते हैं।

साहित्य के लक्ष्य को लेकर उनके मन में कहीं भी भ्रम नहीं है। मनुष्य को उसकी स्वार्थ बुद्धि से ऊपर उठाना, उसको इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्व गुण में प्रतिष्ठित करना, परदुखकातर और संवेदनशील बनाना और निखिल जगत के भीतर व्याप्त एक्य अनुभूति के द्वारा प्राणी मात्र के साथ आत्मीयता का अनुभव कराना ही काव्य का काम है। छंद, अलंकार, पद लालित्य और शैलियों इसी महान उद्देश्य की पूर्ति के साधन है। यह लक्ष्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के समस्त साहित्य और व्यवहारिक समीक्षाओं में देखने को मिलता हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षाओं में इतिहास, धर्म पुराण, पुरातत्व, नृतत्व, मनोविज्ञान, राजनीति आदि शास्त्रों का अद्भुत संयोजन देखने को मिलता है। उनके उपन्यास हो निबंध हों, इतिहास ग्रंथ हों या फिर आलोचना संबंधी ग्रंथ - सभी पढ़ते हुए एक मुक्त वातावरण निर्मित होता है। जहां विषय के बंधन टूट जाते हैं। हिंदी आलोचना में अपने तरह के ऐतिहासिक दृष्टिकोण के कारण वे हिंदी के एकमात्र समीक्षक सिद्ध होते हैं। अपने ऐतिहासिक दृष्टिकोण के कारण ही वे साहित्य को एक चली आ रही परंपरा-धारा के रूप में स्वीकार करते हैं एवं इतिहास ग्रंथ 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में उन्होंने हिंदी साहित्य की अबाध परंपरा का वर्णन किया है। अपने इसी दृष्टिकोण के आधार पर ही उन्होंने हिंदी साहित्य के काल विभाजन आदि का मूल्यांकन किया है। अपने इसी ग्रंथ में उन्होंने कुछ मान्यताएं स्थापित की जैसे, हिंदी साहित्य को संपूर्ण भारतीय साहित्य से संबंधित करके देखा जाना चाहिए, हिंदी साहित्य के माध्यम से व्यक्त चिंताधारा को भारतीय चिंता के स्वाभाविक विकास के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए, हिंदी साहित्य को ठीक से समझने के लिए जैन, बौद्ध, अपभ्रंश साहित्य, कश्मीर के शैव तथा दक्षिण और पूर्व के तांत्रिकों का साहित्य, नाथ योगियों का साहित्य, पुराण, निबंध ग्रंथ तथा लौकिक कथा साहित्य सब कुछ को एक साथ देखा और निरीक्षण किया जाना चाहिए और इसी ग्रंथ में उन्होंने अपनी सबसे महत्वपूर्ण स्थापना भी रखी कि, साहित्य के इतिहास को जनचेतना के इतिहास के रूप में व्याख्यायित किया जाना चाहिए।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के लेखन की यह शक्ति रही है कि उन्होंने शोध और आलोचना संबंधी ग्रंथों को भी इतने सरस ढंग से प्रस्तुत किया है कि सामान्य पाठक भी उन्हें पढ़कर रससिक्त हो जाता है। इतिहास एवं शोधपरक अभिरुचि के साथ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी केवल बौद्धिक क्षुधापूर्ति नहीं कर रहे थे बल्कि वे मानवीय इतिहास में निहित शाश्वत

munotes.in

मूल्यों का संधान कर रहे थे। उनका संपूर्ण लेखन और चिंतन मानव सापेक्ष चिंतन है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस मानव सापेक्ष चिंतन के पीछे कवि रवींद्रनाथ टैगोर की मानव धर्म संबंधी दृष्टि है, जिसके अनुसार 'दिव्य लोकोत्तर सत्ता को चाहे जो नाम दिया जाए, हमारी दर्म साधना के इतिहास में वह मनुष्य के रुप में ही उच्चतम स्थान पा सकी है। मनुष्य के रूप में ही उसने पाप और पुण्य की अवधारणाओं को चरितार्थ किया है और मनुष्य की प्रकृति से सामंजस्य रखने वाली पूर्णता की सभी अवधारणाओं को नित्यता प्रदान की है।' गौर से देखा जाए तो आचार्य द्विवेदी के संपूर्ण चिंतन पर इस अवधारणा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

भारतीय अध्यात्म एवं दर्शन पर गहरी आस्था रखने के बावजूद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विकासवाद और मार्क्सवाद जैसे भौतिकवादी दर्शन की भी चर्चा की है और अत्यंत संतुलित दृष्टिकोण अपनाते हुए इनमें निहित तथ्यगत सत्यों को स्वीकार किया है और इन सिद्धांतों में निहित मनुष्यता को उदात्त बनाने के प्रयत्नों की वे प्रशंसा भी करते हैं। हालांकि तत्वतः वे इन्हें पूरी तरह से वे स्वीकार नहीं करते। आधुनिक वैज्ञानिक और भौतिकवादी सिद्धांत मनुष्य के विकास के पीछे किसी अमूर्त चेतन सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वे चैतन्य को द्रव्य का ही परिणाम मानते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इन सिद्धांतों का कुछ हद तक समर्थन करने के बावजूद नित्य चेतनसत्ता में विश्वास करते हैं। यही आचार्य द्विवेदी की मान्यताओं और इन सिद्धांतों का अंतर स्पष्ट हो जाता है। इस तरह आधुनिक सिद्धांतों के मूल्यांकन के पीछे भी उनकी मानवीय दृष्टि ही प्रधान है। विकासवाद, मार्क्सवाद के साथ-साथ उन्होंने मनोविश्लेषण जैसी आधुनिक अवधारणा का भी मूल्यांकन किया है। वे इसे पठनीय तो मानते हैं पर इसके प्रभाव को वे मानवीय सभ्यता के लिए हितकर नहीं मानते। इसके पीछे उनकी वही मानवीय दृष्टि है जो उनके संपूर्ण चिंतन पर छाई हुई है। वे मनोविश्लेषण के सिद्धांत को इसलिए अस्वीकार कर देते हैं क्योंकि वह मनुष्य को उच्चतर मानवीय मूल्यों की ओर बढ़ने की कोई प्रेरणा नहीं देता और दमित-वासना, लिबिडो आदि के माध्यम से उसके मनोबल को कमजोर करता है।

हिंदी में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे आलोचक है, जिनकी दृष्टि बेहद स्पष्ट और संतुलित है। कहीं कोई भ्रम नहीं, कहीं कोई समझौता नहीं। मानव की विराट गरिमा उनके साहित्य के केंद्र में है, वही आलोचना में भी मूल्यांकन का आधार बनती है। प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति उनकी चेतना में रचे-बसे हैं। हिंदी साहित्य में आदिकाल और मध्यकाल पर उनके जैसा अधिकारपूर्ण विश्लेषण दुर्लभ है। इतिहास, संस्कृति, साहित्य सभी कुछ में वह एक एकता का अनुभव करते हैं और वह एकता मानवीय गरिमा की श्रीवृद्धि में उन्हें दिखाई देती हैं। आधुनिक भौतिकवादी दर्शनों के एकांगी दृष्टिकोण के प्रति उनमें असहमति का भाव हैं, परंतु वहां से भी जो कुछ मानव को उदात्त बनाता हुआ उन्हें नजर आया, उसे सहर्ष उन्होंने स्वीकार किया। उनकी दृष्टि ज्ञान और कर्म के क्षेत्र से हर उस धारणा को स्वीकार करने की है, जो मानव अस्मिता को एक नई दृष्टि और दिशा देने में सक्षम हैं। अपनी लोकधर्मी चेतना से उन्होंने हिंदी साहित्य को न केवल सही दिशा देने का काम किया बल्कि मूल्यांकन का ऐसा समर्थ आधार भी प्रदान किया जो आज भी प्रासंगिक है। हिंदी आलोचना में उनके जैसी समेकित दृष्टि का आलोचक न तो उनसे पहले था और न अब तक है, यही उनका महत्व हैं।

६.४ सारांश

हिन्दी आलोचना के विकास में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का व्यापक योगदान है। इन्होंने व्यवहारिक समीक्षाओं के द्वारा उनके मानक भी प्रस्तुत किए। सामयिक संदर्भो में हो रहे चेतना के बदलावों को भी भलिभाँति लक्षित किया इनके अथक कार्यों से हिन्दी आलोचना को भव्यता मिली।

६.५ लघु उत्तरीय प्रश्न

१) बाणभट्ट की आत्मकथा उपन्यास के लेखक है ?
२) हिन्दी साहित्य का आदिकाल पुस्तक के लेखक है
३) वह कौनसे पहले समीक्षक व विचारक थे जिन्होने आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे स्थापित समीक्षक की मान्यताओं को चुनौती दी थी ?
४) संत कबीर को उनका वास्तविक श्रेय दिलाने का श्रेय किस विद्वान को जाता है ?
५) 'लालित्य तत्व' निबंध के लेखक है ?

६.६ बोध प्रश्न

१) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के आलोचनात्मक विचारों का विस्तृत परिचय दीजिए।
२) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के इतिहास चेतना संबंधी विचारों का विस्तृत वर्णन दीजिए।

६.७ सहयोगी पुस्तकें

१) हिन्दी आलोचना के आधार स्तंभ - खंडेलवाल एवं गुप्त
२) हिन्दी आलोचना : शिखरों से साक्षात्कार - डॉ. रामचन्द्र तिवारी
३) हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली - अमरनाथ
४) हिन्दी आलोचना का विकास - नन्दकिशोर नवल
५) हिन्दी आलोचना का विकास - मधुरेश

❖❖❖❖

munotes.in

इकाई - ७ मार्क्सवाद, अभिजात्यवाद, स्वछंदतावाद

लेखक - डॉ. अवधेश राय

munotes.in

इकाई-७

मार्क्सवाद, अभिजात्य वाद, स्वछंदता वाद

इकाई की रूपरेखा :

७.० इकाई का उद्देश्य
७.१ प्रस्तावना
७.२ मार्क्सवाद व विशेषताएँ
७.३ अभिजात्यवाद व विशेषताएँ
७.४ स्वच्छंदता वाद व विशेषताएँ
७.५ सारांश
७.६ लघुउत्तरीय प्रश्न
७.७ बोध प्रश्न
७.८ सहयोगी पुस्तके

७.० इकाई का उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को

- कार्ल मार्क्स के मार्क्सवादी विचारो से अवगत कराना है, इनके विचारों का मूल द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है जिसे साहित्य के वर्गीय स्वरूप को अपने विचारों का प्रस्थान बिन्दु स्वीकार किया है।
- इस इकाई में हम अभिजात्यवाद का अध्ययन करेंगे। इसके अध्ययन के द्वारा अभिजात्यवाद का अर्थ, इतिहास स्वरूप और अभिजात्यवाद का वैश्विक इतिहास के परिदृश्य में साहित्य संबंधी अध्ययन कर सकेंगे।
- स्चछन्दतावाद के विषय में जानेंगे इसके अर्थ, स्वरूप और अवधारणा के साथ विशेषताओं का अध्ययन कर सकेंगे।

७.१ प्रस्तावना

मार्क्सवाद की उत्पत्ति स्वतंत्र व्यापार और पूँजीवादी के विरोध में हुई। इस विचारधारा में दो प्रमुख वर्ग पूँजीवादी और श्रमिक वर्ग ये परस्पर विरोधी है और इनमें द्वंद्व होगा ही। इस आधार पर मार्क्सवाद का अध्ययन करेंगे।

अभिजात्यवाद की अवधारणा, अर्थ, स्वरूप का विस्तृत अध्ययन करेंगे व इसके अनुसार श्रेष्ठ साहित्य सृजन के स्वरूप को जानेंगे साथ ही स्वछंदता वाद का प्रारंभ, उसका चिन्तन व ग्रीक व अंग्रेजी साहित्य की अध्ययन शैली में स्वछंदतावाद का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

७.२ मार्क्सवाद व विशेषताएँ

मार्क्सवादी विचारधारा के जन्मदाता कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३) तथा फेडरिक एंजिल (१८२० - १८९५) हैं। इन दोनों विचारकों ने इतिहास, समाजशास्त्र, विज्ञान, अर्थशास्त्र व राजनीति का अध्ययन करके जिस विचारधारा को विश्व को दिया उसे मार्क्सवाद कहा जाता है।

मार्क्सवादी क्रांतिकारी समाजवाद का एक रूप है जो आर्थिक और सामाजिक समानता में विश्वास रखता है। मार्क्सवाद की उत्पत्ति स्वतंत्र व्यापार और पूँजीवाद के विरोध के कारण हुआ। मार्क्सवाद पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर सर्वहारा वर्ग की समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करना चाहता हैं जिसमें हिंसात्मक क्रांति अनिवार्य है। मार्क्सवादी वर्गहीन और शोषण विरहित समाज की स्थापना में विश्वास रखता है।

१) द्वंद्वात्मक भौतिकवाद : द्वंद्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के विचारों का मूल है। मार्क्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद प्रणाली को हीगल से ग्रहण किया। हीगल संसार को नियामक तथा विश्वआत्मा मानता है वहीं मार्क्स भौतिक तत्व को स्वीकार करते हैं। मार्क्स का मानना है कि द्वंद्ववाद का आधार विश्वआत्मा न होकर पदार्थ ही है। मार्क्स के विचारों में पूँजीवाद है - जिसमें दो वर्ग हैं। एक पूँजीपति और दूसरा श्रमिक। इन दोनों विरोधी वर्गो में संघर्ष होना आवश्यक है।

२) साहित्य सबंधी दृष्टिकोण : मार्क्सवादी समीक्षकों ने साहित्य के विश्लेषण के लिए आधार, अधिरचना और साहित्य के वर्गीय स्वरूप को अपने विचारों का प्रस्थान बिन्दु स्वीकार किया है। इसके अलावा वे साहित्य के उद्देश्य पर भी चर्चा करते हैं। समाज के लिए इनका उद्देश्य वर्ग संघर्ष मे सक्रिय भाग लेकर वर्गहीन समाज की स्थापना करता है। जिसे हम मार्क्सवाद की शब्दावली में समाजवाद कहते हैं। मार्क्सवादी साहित्य दृष्टि का उद्देश्य विश्लेषण के उन तरीकों की खोज करता है। जिससे यह स्पष्ट हो सके कि रचना में व्यक्त विचारधारा सत्ताशाली वर्ग द्वारा अधीता वर्ग के शोषण का समर्थन करती हैं या निषेध। इसके साथ क्या वह सत्ताशील वर्ग का महिमामंडल करता है? क्या यह कमजोर वर्ग को अवमुल्यन या नजर अंदाज करता है? इस रचना का पाठक वर्ग कौनसा है आदि।

मार्क्स के आर्थिक - राजनीतिक विचारधारा के संदर्भ में ही उनकी साहित्यिक दृष्टि को समझा जा सकता हैं। मार्क्स की याचना है कि मनुष्य की चेतना पदार्थ से होती है न कि चेतना से पदार्थ की उत्पत्ति होती है। इसी चिंतन के कारण उनका चिंतन भौतिकवादी कहलाता है।

munotes.in

३) इतिहास की आर्थिक भौतिकवादी कल्पना : मार्क्स की विचारधारा में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की तरह ही इतिहास की आर्थिक कल्पना का सिद्धांत भी महत्वपूर्ण है। उसने इसकी ६ अवस्थाएँ बतलाई १) आदिम साम्यवादी व्यवस्था २) दासता की अवस्था ३) सामंतवादी व्यवस्था ४) पूँजीवादी व्यवस्था ५) श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व की अवस्था ६) राजविहित और वर्गविहित समाज की अवस्था

मार्क्सवादी विचारधारा में राज्यविहित और वर्गविहित की अवस्था ही साम्यवादी समाज की स्थापना कर सकता है।

४) वर्ग संबंधी का सिद्धांत : मार्क्स ने कहा कि अब तक के समस्त समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का रहा है। मार्क्स का मानना है कि आधुनिक काल में पूँजीवाद के विरुद्ध श्रमिक वर्ग संगठित होकर पूँजीवादी व्यवस्था को ध्वस्त कर देंगे और सर्वहार वर्ग की तानाशाही स्थापित हो जाएगी।

५) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत : मार्क्स ने अपनी पुस्तक "दास कॅपिटल" में अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत को प्रतिपादित किया है। मार्क्स की मान्यता है कि पूँजीपति श्रमिकों को उनका उचित परिश्रमिक न देकर उसके श्रम का अधिकांश लाभ स्वयं हड़प लेता है। उसकी मान्यता है कि किसी वस्तु का मूल्य इसलिए होता है क्योंकि उसमे मानवीय श्रम लगा है। दूसरे शब्दों में वस्तु का मूल्य का निर्धारण उस श्रम से होता है जो उस वस्तु के उत्पादन पर लगाया जाता हैं। मार्क्स के अनुसार वस्तु का वास्तविक मुल्य उस पर किए गए श्रम के बराबर होता है किंतु जब वह वस्तु बाजार में बिकती है तो वह ऊँचा मूल्य पाती है। इस प्रकार वास्तविक मूल्य अंत बाजार के मूल्य के अंतर को पूँजीपति हड़प लेता है। इस प्रकार वास्तविक मूल्य और विक्रय मूल्य का अंतर भी अतिरिक्त मूल्य है।

६) सर्वहार वर्ग का अधिनायकत्ववाद : द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था मे अन्तर्निहित विरोध स्वभाव के कारण पूँजीपति वर्ग से संघर्ष अवश्यंभावी है। इस वर्ग संघर्ष में श्रमिक वर्ग संगठित होकर पूँजीपति वर्ग पर प्रहार करेगा और शक्तिम क्रांति द्वारा पूंजीवाद को समूल नष्ट कर देगा। श्रमिकों की तानाशाही में पूंजीपति वर्ग को बलपूर्वक दबा दिया जाएगा और श्रमिकों का अधिकतावादी व्यवस्था लागू होगी। यह व्यवस्था पूँजीपतियों के शासन की तुलना में ज्यादा लोकतांत्रिक होगी। रंगडिल्स के शब्दों में जब श्रमिक वर्ग राज्य की सम्पूर्ण शक्ति प्राप्त कर लेगा तब वर्ग के सभी विरोधों व मतभेदो को समाप्त कर देगा।

६) वर्गहीन व राज्य विहित समाज : पूँजीवादी व्यवस्था के समाप्त होने पर सभी वर्ग के लोग एक स्तर पर आ जाएंगे तो सभी वर्ग समाज के लिए सर्वाधिक कार्य करेंगे। ऐसे वर्गहीन व राजहीन समाज में शोषण का पूर्ण अभाव होगा। व्यक्ति सामाजिक नियमों का पालन करेंगे। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद की सर्वोच्च स्थिति है। स्वतंत्र समाज में हर वर्ग अपनी क्षमता और योग्यतानुसार कार्य करेगा। अर्थात इसमें न वर्ग होगा न राज्य वीसवी सदी की मार्क्सवादी साहित्य दृष्टि तयशुदा नियमों में बँधी दृष्टि नहीं है। एक सामान्य दृष्टिकोण को साझा करने के बावजूद जार्ज, लुकाच, अन्तोनियो ग्राम्शी वाल्टर, रेमण्ड विलियम और दूसरे मार्क्सवादी आलोचकों की समीक्षा पद्धति एक-दूसरे से नितांत भिन्न है। बीसवीं सदी के सातवे दशक के

munotes.in

आरम्भ में मार्क्सवादी आलोचक ने पुराने संदर्भों को नए आयाम में मूल्यांकन करना प्रारंभ कर दिया। उन्होंने इन विषयों पर गोर किया कि विचारधारा और साहित्य के बीच कैसा संबंध हो? किस हद तक साहित्यिक उलाढाल का समाजशास्त्रीय विवरण लेखक की व्यक्तिगत प्रेरणाओं के महत्व को नकारता है? इन सवालो से जुझते हुए मार्क्सवादी आलोचकों ने मार्क्सवादी साहित्यिक दृष्टि को संकीर्णता के दायरे से बचाते हुए बदले संदर्भो में विश्लेषण की महत्वपूर्ण पद्धति स्थापित की है। संक्षेप में मार्क्सवाद की निम्न विशेषताएँ हैं -

१) मार्क्सवाद पूँजीवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है।
२) मार्क्सवाद पूँजीवाद को समाप्त करने के लिए हिंसात्मक साधनों के प्रयोग को मानता है।
३) मार्क्सवाद प्रजातांत्रिक संस्थाओं को पूँजीपतियों की संस्था मानता है जो उनके हितों के लिए श्रमिकों के शोषण के लिए बना है।
४) मार्क्सवाद धर्म विरोधी है। धर्म को मानव जाति के लिए अफीम कहा है।
५) मार्क्सवाद शोषकों और शोषितो में वर्ग संघर्ष अनिवार्य मानता है।
६) मार्क्सवाद वर्गहीन राज्यविहित सत्ता में विश्वास करता है।
७) मार्क्सवाद अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत द्वारा पूँजीवाद के जन्म को स्पष्ट करता है।
८) मार्क्सवाद सर्वहारा के तानाशाही में विश्वास करता है।
९) मार्क्सवाद हीगल के आध्यात्मवाद के स्थान पर भौतिकवाद का समर्थन करता है।
१०) मार्क्सवादी अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद में विश्वास करते हैं।

मार्क्सवाद ने समाजवाद को एक ठोस और वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। वह श्रमिक वर्ग में वर्गीय चेतना और एकता पर जोर देता है। वह पूँजीवाद व्यवस्था पर कुठराघात करता है और उसके खाला में विश्वास रखता है। मार्क्सवाद दलित, पीड़ित, शोषित और श्रमिक वर्ग का पक्ष लेकर मानव कल्याण के लिए समाजवाद को एक ठोस वैज्ञानिक आधार प्रदान करता है। मार्क्सवादी दृष्टि लेखक को सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भो में ??? है। उसके लिए रचना का कला पक्ष गौण होता है। वह केवल अन्तर्वस्तु पर जोर देता है। मार्क्सवादी लेखक इस बात का मूल्यांकन करता है कि रचना किस वर्ग के लिए है। क्या वह सर्वहार वर्ग के प्रति सहानुभूति रखती है या नही? वह उन मूल्यों की भी परख करती है कि क्या रचना कमजोर वर्ग की आवाज बन रही है कि नही। रचना का पाठक कौन है? इस प्रकार मार्क्सवादी दृष्टि भौतिक और समाजशास्त्रीय संदर्भो के बीच विचाराधारात्मक संबंधों के अध्ययन पर जोर देता है।

७.३ अभिजात्यवाद व विशेषताएँ

हिन्दी में अभिजात्यवाद शब्द का प्रयोग उस प्रवृत्ति के लिए किया जाता है जिसे अंग्रेजी में क्लासिसिज्म (Classicism) कहा जाता है। अभिजात्यवाद के लिए हिन्दी में समय-समय पर अनेक नाम प्रस्तावित किए गए जैसे शास्त्रवाद, श्रेष्ठवाद आदि। लेकिन अंग्रेजी के शब्द क्लासिसिज्म जिस अवधारणा के लिए रूढ़ होकर मान्य हो गया, ये समग्रता मे उसका बोध कराने में असमर्थ है। साहित्य और कला के संदर्भ में प्रयुक्त होने वाले क्लासिसिज्म शब्द का मूल लैटिन भाषा में है। यह शब्द रोम में करदाताओं के लिए किया जाता था। जो समाज का उच्च वर्ग था। दूसरी शताब्दी में एक रोमन लेखक ने इसी आधार पर इसका प्रयोग साहित्य में किया। इस प्रकार क्लासिसिज्म श्रेष्ठता के वाचक हो गए। क्लासिक शब्द का प्रयोग ऐसी वस्तुओं के लिए होने लगा जो श्रेष्ठता या उत्कर्ष का बोध कराती हो।

अभिजात्यवाद का प्रयोग ऐसी ऐतिहासिक श्रेणी के रूप में एक ऐसे युग के लिए किया गया जिसमें श्रेष्ठ या कालजयी कृतियों की रचना हुई। प्राचीन ग्रीस और रोम की संस्कृति और इतिहास के अध्ययन की प्रवृत्ति को, तथा ग्रीक और लैटिन की रचना और रचनाकारों के आदर्श का अनुकरण करने और उनकी टक्कर की कृतियों के रचने की प्रवृत्ति को अभिजात्यवाद समझा गया।

इसी प्रकार हमारे यहाँ भी संस्कृति साहित्य के लिए 'क्लासिकल लिटरेचर' का प्रयोग प्रचलित है। प्राचीन कालजयी साहित्य के लिए सीमित अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से किया जाता रहा है। परन्तु समय के साथ 'अभिजात्यवाद' पद का प्रयोग विशेष युग और उसके दौरान रचित साहित्य के संदर्भ में सीमित न रहकर सार्वकालिक और सार्वभौमिक हो गया। दांते की 'डिवाइन', शेक्सपियर के नाटक मिल्टन का 'पैराडाइजलास्ट''कामेडी' इलिएट का 'वेस्टलैंड' उसी प्रकार कालजयी रचनाएँ है जैसी वाल्मिकी का रामायण, कालिदास का कुमार सम्भव और अभिज्ञान शाकुंतलम्, तुलसीदास का रामचरित मानस, प्रसाद की कामायनी, निराला की राम शक्ति पूजा और प्रेमचंद का गोदान प्रमुख है।

'अभिजात्यवाद' का आरंभ अरस्तु के व्याख्याकार होरेस (६६ ई.स.) से माना जाता है। चौथी शताब्दी में यह प्रवृत्ति अरस्तु के शास्त्रीय चिंतन में यह रूप ग्रहण कर चुकी थी। अरस्तु के पहले, प्लेटो में भी क्लासिकल चिंतन के संकेत मिलते हैं। अरस्तु का 'पोएटिक्स' (काव्यशास्त्र) उन्हें अभिजात्यवाद के प्रणेता के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

युरोप में तीन ऐसे पुत्र हुए है, जिनका उल्लेख अभिजात्यवादी के रूप में किया जाता है। सबसे पहले यूनान में पेरिक्लेस का युग है। साहित्य में इस युग का प्रतिनिधित्व इस्काइल और साफोक्लेस करते हैं। इसके प्रमुख सिद्धांतकार है अरस्तु। दूसरा व तिसरा है वर्जिल का युग, यह रोमी साहित्य का अभिजात्यवादी युग है। तीसरा फ्रांस में सेंट लुई (सत्रहवी शताब्दी) का उतरार्द्ध और इंग्लैंड के अठारहवी सदी के साहित्य की अभिजात्यवादी साहित्य माना जाता है। फ्रांस में इसका प्रतिनिधित्व कार्नेई और रासीन करते हैं और इंग्लैंड में पोप, एडीसन तथा डॉ. जानसन जैसे लेखक। इस दौर में फ्रांस और इंग्लैंड में यह प्रतिपादित किया गया कि साहित्य और कला के क्षेत्र में जो ऊँचाई हासिल की जा सकती है वह रोम और यूनान में हासिल कर ली गई थी। अतः हमें इन प्रतिभाओं का अनुकरण करना चाहिए। इस प्रकार अरस्तु और हेरेस द्वारा प्रतिपादित शास्त्रीय नियमों का नये सिरे से अनुकरण किया गया जिसे हम 'नव अभिजात्यवाद' कहते हैं। फ्रांस और इंग्लैंड में नव अभिजात्यवाद में रोमी, अभिजात्यवाद का अनुकरण किया गया और यूनानी अभिजात्यवाद का नहीं। यूनानी अभिजात्यवाद दरबारी संस्कृति से प्रेरित था।

अभिजात्यवाद का स्वरूप ईशा पूर्व पहली शताब्दी से लेकर ५ वीं शताब्दी तक साहित्य चिंतन में दिखलाई देता है। साहित्य में उदात्त तत्व का प्रतिपादन करने वाले लोंजानाइस / लोगीनुस के उदात्त विवेचन में अभिजात्यवादी तत्वों का संकेत मिलता है। वे वक्तृता और काव्य दोनों में यथार्थ का आग्रह करते है तथा प्रतिभा और अभ्यास के संतुलित प्रयोग पर बल देते हैं।

मध्यकालीन यानी, पाँचवी से पंद्रहवी शताब्दी तक का समय यूरोप में साहित्य और कला विवेचन की दृष्टि से अंधकार युग समझा जाता है। इस समय धार्मिक अंधविश्वास और

नैतिक कट्टरता से युक्त साहित्य का वर्चस्व रहा। यूरोप में यह कट्टरता पुनर्जागरण के शुरुआत के साथ टूटी। उस काल में व्यक्ति - स्वातंत्र्य और मानवतावाद की प्रतिष्ठा हुई।

स्वतंत्रता और कल्पना जिस अराजकता में बदलने लगी उसकी प्रतिक्रिया अभिजात्यवाद के पुनरूत्थान के साथ हुई जिसे हम नव-अभिजात्यवाद कहते हैं।

नव-अभिजात्यवाद का विकास सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में हुआ। फ्रांसीसी अभिजात्यवाद का आरंभ 'बारोक' संस्कृति के गैर शास्त्रीयता के विरोध में हुआ। रासीन, कार्नील और बुअलो जैसे रचनाकारों ने साहित्य में फैली अराजकता का विरोध किया व शास्त्रीयता और संयम की प्रतिष्ठा की। यूरोप के देशों में नव अभिजात्यवाद का प्रतिकलन एक रूप में नही हुआ। फ्रांसीसी अभिजात्यवाद अभिजात वर्ग के समाज दृष्टि को व्यक्त करता है जो उनके रूचि और दृष्टिकोण से निर्धारित होती थी।

इंग्लैंड में नव अभिजात्यवाद सत्रहवीं शताब्दी में ही दृष्टिगोचर होने लगा था। बेन जानसन (१५७३-१६३७), जान ड्राइडन (१६३१-१७००), अलेक्जेंडा पोप (१६८८-१७४४) आदि रचनाकारों ने इस प्रवृत्ति का पोषण किया। कुल मिलाकर सत्रहवीं - अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य चिंतन में प्राचीन अभिजात्यवादी दृष्टि अनुरुप तर्क और बुद्धि पक्ष को प्रधानता दी गई। शास्त्रीय नियमों के पालन पर जोर दिया गया। संयम, संतुलन और आदर्शवाद पर जोर दिया गया। इंग्लैंड में मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-८९) ने स्वच्छंदतावाद के पराभव के बाद साहित्य को जीवन से जोड़ने की आवश्यकता की बात की। टी. एस. इलियट ने अपनी पुस्तक टेड्रिसन एण्ड इंडविजुअल टेलेन्ट में अभिजात्यवादी परम्परा की स्थापना करे। वे आलोचना में तटस्थता के पक्षधर थे। अभिजात्यवाद मूल रूप से अभिजात वर्ग के साहित्य से प्रेरित था। नव अभिजात्यवादी साहित्य भी नागर और सुशिक्षित वर्ग से जुड़ा था। अभिजात्यवादी साहित्य में भावना और आत्मानुभूति की उपेक्षा की गई। इलियट काव्य में वैयक्तिक और निर्वेयक्तिक तत्वों की पहचान थी द्वंद्वात्मक सह-अस्तित्व के रूप में करते हैं, विरोधी रूप में नहीं।

प्रमुख प्रवृत्तियों - अभिजात्यवाद की मुख्य प्रवृत्तियों की निम्न रूप में सूत्रबद्ध किया जा सकता है -

१) अनुकरण : अभिजात्यवादी साहित्य में मौलिक सृजन की अपेक्षा साहित्य के प्राचीन व चिर परिचित रूपकों के प्रति आकर्षण है। इस प्रवृत्ति के रचनाकार प्राचीन रचनाकारों व कालाकारों की कृतियाँ का रूपान्तर या अनुकृति करने का प्रयास करते हैं।

२) सायास निर्मिति : अभिजात्यवादी रचनाकार कला व साहित्य में रचना को अनुकरण मानने के कारण स्वतः स्फूर्त मौलिक सृजन न मानकर सायास कलाकृति मानते हैं। अभिजात्यवादी कला में परिष्कृत रूचि, जीवन की व्यापक दृष्टि के साथ-साथ विवेक की भावना, सच और वास्तु के संतुलन को प्राथमिकता दी गई। इनके यहाँ कृति की रचना भावों के अंतः स्फूर्त भावों एवं आवेगों के अनायास उच्छलन के साथ में नहीं होती बल्कि सोच समझकर योजनाबद्ध रूप में होती है।

३) वस्तुनिष्ठ कला : अभिजात्यवादी कला मूलतः वस्तुनिष्ठ कला होती हैं। इनकी दृष्टि में स्वच्छंदतावादी की आत्मनिष्ठता के प्रति अविश्वास और वस्तुनिष्ठता के प्रति समादर होता है।

४) भाव संयम व भाव व्यवस्था : अभिजात्यवाद में भावना का निषेध नहीं किया गया है। वस्तुतः अनुभूति के अभाव में उत्कृष्ट कला का सृजन नहीं हो सकता है। किन्तु भावावेश के स्थान पर भाव संयम और भाव व्यवस्था पर जोर दिया गया।

५) सार्वभौमिकता : स्वच्छंदतावाद में काव्य को मुलतः कवि की आत्मीय अभिव्यक्ति माना जाता है। ठीक इसके विशिष्ट अभिजात्यवादी रचनाकार की यह प्रबल आकांक्षा होती है कि उसका साहित्य विश्वजीत सभ्यता का चरम प्रतीक हो।

६) वस्तुनिष्ठता : वैयक्तिकता के अतिक्रमण की एक प्रवृत्ति आत्म की तुलना में वस्तु को महत्त्व देने की होती है। दूसरी नवीनता के जगह पर परम्परा का अनुगमन करने की स्वच्छंदतावादी कवि जहाँ कल्पना के पंखों पर नित भ्रमण करता है वहीं अभिजात्यवादी रचनाकार के पाँव दृढ़ता से अपनी जमीन, वस्तु जगत और वह अपनी परम्परा और विरासत के प्रति सजग और सचेत रहता है। अभिजात्यवादी रचनाकार की दृष्टि में उसके आत्म की तुलना में इदम् का महत्त्व अधिक रहता है। जिसमें चारों ओर के जीवन और जगत के साथ परम्परा और विरासत भी शामिल होती है।

७.४ स्वच्छंदता वाद

यूरोप में अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध के अंतिम दशक और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में एक नवीन साहित्यिक प्रवृत्ति का उन्मेष हुआ जिसे स्वच्छंदतावाद कहा गया। इस धारा का प्रादुर्भाव में रुस के स्वच्छंदतावादी चिंतन का बहुत बड़ा योगदान था। इस धारा का फ्रांस की राज्य क्रांति (१७८९) से भी गहरा संबंध है। फ्रांसीसी क्रांति का नारा समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व स्वच्छंदतावादियों का प्रेरणा स्त्रोत रहा। रूसो ने मानव-स्वतंत्रता पर जोर दिया। उसने कहा "Man is born free but is found everywere in chain."! रूसो ने आरोप लगाया कि अपने समय की सभ्यतामूलक संस्कृतियों के कारण मानवता भ्रष्ट हुई। अगर भष्ट्राचार से मुक्त होता है तो प्रकृति की शरण में जाना होगा। उसने नारा लगाया - "प्रकृति की ओर वापस लौटों।" फ्रांसीसी क्रांति के पीछे वाल्टेयर और रूसो जैसे बुद्धजीवियों की प्रेरणा थी। क्रांति के दौरान राजशाही की सत्ता को बलपूर्वक उलट दिया गया। राजशाही का समर्थक चर्च था। जिसका वर्चस्व पूरे यूरोप में था। चर्च के प्रभुत्व को भी समाप्त किया गया।

यूरोप की सभी देशों मे चर्च का प्रभुत्व था और अभिजात वर्ग और चर्च का गठबंधन कायम था। इंग्लैंड में यह दौर औद्योगिकरण का था जिसके फल स्वरूप एक नया मध्यम वर्ग उभर रहा था। इंग्लैंड के बहुजीवी यह महसूस करते थे कि जब तक अभिजात वर्ग और चर्च के गठबंधन को सत्ता के वर्चस्व से मुक्त नहीं किया जाएगा, तब तक देश का विकास नहीं होगा इन बुद्धजीवियों में वड्र्सवर्थ और कोलरिज प्रमुख थे। वड्र्सवर्थ ने अपनी कविताओं में मानव मात्र की समानता पर जोर दिया। उनका स्पष्ट मत था, "कवि केवल कवियों के लिए नहीं लिखते हैं, मानव मात्र के लिए लिखते हैं।" स्वच्छंदतावादी आंदोलन में वड्र्सवर्थ और कोलरिज का युग्म

प्रसिद्ध है। 'लिरिकल बैलड़्स' (१७९८) उनके सहलेखन का परिणाम है। कोलरिज कविता का उद्देश्य आनंद मानते है, सत्य नही। इस प्रकार सत्य का खंडन कर वे परम्परा से चली आ रही अवधारणा को नकारते है। यह प्रवृत्ति उनको स्वच्छंदतावादी मनोगत को दर्शाती है।

तब अभिजात्यवादी मान्यता के प्रतिकूल वर्डसवर्थ के काव्य को "प्रबल भावों का सहज उच्छलन" कहकर उसकी अनाथसत्ता प्रतिपादित की। नवअभिजात्यवादी काव्य को सचेत तथा आयास सिद्ध व्यापार मानते थे।

१८ वीं शताब्दी में अंग्रेजी साहित्य, ग्रीक साहित्य को अपना आदर्श मानकर स्वयं को शास्त्रीय नियमों में जकड़ दिया था। उस युग के लेखक द्वंद, शिल्प बाह्य अंतकरण के मोह में जकड़ गए थे। इस प्रकार उनकी नवोन्मेषकारी प्रतिभा दब गई थी। नव अभिजात्यवाद और नियम बद्धता के विरोध में स्वच्छंदतावाद का जन्म हुआ। स्वातंत्र्य की लालसा, बंधनो को काट फेकने का उत्साह और प्रकृति के प्रति प्रेम ने इस आंदोलन को प्रभावित किया। भारत में छायावाद भी इसी अवधारणा से प्रेरित है। 'स्वच्छंदतावाद' युरोपीय ज्ञानवाद द्वारा आरोपित बुद्धिवाद का विरोध था। स्वच्छंदतावाद के विकास में फ्रेडरिक्स और श्लेगल (जर्मनी) की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। मेरी शैली की कृति 'फैंकस्टीन' (१८१८) भी उन्नीसवी सदी की महत्वपूर्ण कृति है जो स्वच्छंदतावाद से प्रेरित हैं।

यूरोप के औद्योगिकिकरण के प्रतिक्रिया में यह आंदोलन और सशक्त हुआ यूरोप में औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप एक नव धनाढ्य वर्ग विकसित हुआ। इस वर्ग के पास पैसा तो था लेकिन शिक्षा और संस्कार नहीं था। वर्डस्वर्थ ने इन लोगों के संस्कार के लिए 'लिरिकल बैलइस की कविताओं की रचना की।

औद्योगिक क्रांति के प्रभाव से कृषि और उद्योग का परम्परागत संबंध टूटने लगा और ग्रामीण कारीगरों का पेशा भी चौपट होने लगा। छोटे किसान तबाह होने लगे। स्वच्छंदतावादियों ने इस बदलाव को बड़े संवेदनशीलता के साथ अपने साहित्य में अंकन किया विशेषकर वड्र्सवर्थ और कीट्स ने।

हिन्दी में स्वच्छंदतावाद का प्रभाव वीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के छायावादी कवियों की कविताओं में मिलता है। पं. रामचन्द्र शुक्लजी श्रीधर पाठक को स्वच्छंदतावाद का प्रवर्तक माना है। छायावाद और स्वच्छंदतावाद में गहरा साम्य है। दोनों में प्रकृति प्रेम, मानवीय दृष्टिकोण, आत्मभिव्यंजता, रहस्य भावना, वैयक्तिक प्रेम भावना, प्रतीक योजना, निष्या, पलायन, अंह का उदात्तीकरण आदि के दर्शन होते हैं।

स्वच्छंदतावाद की बड़ी उपलब्धि भाषा के क्षेत्र में है। स्वच्छंदवादी कवियों ने क्लासिकल (अभिजात्य) भाषाओं को रचनाशीलता के केन्द्र से विस्थापित करके लोकप्रिय व जन भाषा में लिखना शुरु किया। स्वच्छंदतावाद में कल्पना, अनुभव और भावनाओं पर अधिक जोर दिया गया। कल्पना को कोलरिज काव्य सर्जन के लिए आवश्यक तत्व मानते थे।

नवशास्त्रवादियों में सौंदर्यबोध के सीमित प्रयोग के कारण काव्यवस्तु को संकुचित कर दिया था। स्वच्छंदतावादियों ने इसे विस्तार दिया। उनमें नए क्षितिज को देखने की जिज्ञासा थी।

munotes.in

उन्होंने यथार्थ के नए क्षितिज को देखने व परखने के लिए, वस्तुओं के अन्तर्गत में डूबकर उसके सूक्ष्म रहस्यों को समझने की कोशिश की। शायद इसी विशेषता को ध्यान में रखकर पेंटर ने स्वच्छंतावाद को सौंदर्य का अद्‌भूत योग कहकर परिभाषित किया।

स्वच्छंदतावादी काव्य में जहाँ एक तरफ क्रांतिकारी चेतना दिखलाई देती है वहीं दूसरी ओर दुख, निराशा पलायन भी है। सामाजिक क्षेत्र में जनता जो संघर्ष कर रही थी, उसे स्वच्छंदतावादी ने अपनी वाणी दी। स्वच्छंदतावादी कवियों को वैज्ञानिक चिंतन से भी लगाव था। वड्‌र्सवर्थ, और कोलरिज के सृजन पर बेकन-लॉक हार्ट का गहरा प्रभाव है, इस प्रकार स्वच्छंदतावादी कवियों ने काव्य में एक, नवीन यथार्थवाद का विकास किया जो नवशास्त्रीय संस्कृति के विरोध में विकसित हो रही थी। पुनर्जागरण काल के बाद यह अंग्रेजी कविता का सबसे समृद्ध युग था।

स्वच्छंदतावाद प्रारम्भिक प्रस्फुटन जर्मनी में हुआ। कांट ने सबसे पहले मानवीय चिंतन को वस्तुपरक की ओर मोड़ा। कोलरिज पर कांट का गहरा प्रभाव था। अभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद के अंतर की बात सबसे पहले जर्मनी के कवि जेटे और शिलर ने उठाई। जेटे कविता में वस्तुपरकता के पक्षधर थे तो शिलर आत्मपरकता के। गेटे अभिजात्यवाद को स्वास्थ्य का लक्षण और स्वच्छंदतावाद को रुग्ण मानते थे।

स्वच्छंदतावाद की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं -

१) विद्रोह की भावना : अंग्रेजी स्वच्छंदतावाद का संबंध फ्रांसीसी क्रांति से या इसलिए उसमे समानता, स्वतंत्रता व बंधुत्व की भावना मुख्य थी। स्वच्छंदतावादी कवियों ने अभिजात्य के स्थान पर सामान्य को अपना वर्ण्य विषय बनाया। उन्होंने भौतिकी के साथ धर्म, नीति साहित्यिक परम्पराओं का विरोध किया।

२) कृत्रिमता से मुक्ति : प्रकृति की तरफ लौटने के उद्‌घोष के साथ स्वच्छंदतावादी कवि हर तरह की कृत्रिमता और आडम्बर के विरोधी थे। 'लिरिकल बैलारड्स' नामक काव्य इसी से अनुप्रेरित है।

३) सामान्यजन की भाषा : स्वच्छंदतावादी कवियों ने अभिजात्य वर्ग को त्याग कर काव्य रचना के लिए सामान्य जन की भाषा को अपनाया। क्योंकि वे लोग सामाजिक मिथ्याहंकार से मुक्त थे।

४) कल्पना की प्रधानता : कोलरिज ने कल्पना को काव्य सर्जन के लिए अनिवार्य माना। इसलिए स्वच्छंदतावादी कवि कल्पना के लोक में विकास करता था। इसी कल्पना ने उन्हे रहस्यवादी बना दिया। उसका मस्तिष्क सूक्ष्म भावों को अधिक तत्परता के साथ ग्रहण करता है।

५) पलायनवादी : स्वच्छंदतावादी कवि संसार की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर एक कष्ट रहित संसार की कल्पना करता है।

munotes.in

६) अद्‌भूत के प्रतिमोह : कल्पना की प्रधानता के कारण इन कवियों ने सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं में ईश्वर कि प्रतीति होती है।

७) वैयक्तिकता की भावना : स्वच्छंदतावादी कवि अपनी भावना, दृष्टि और रूचि को प्रधानता देता है। इसलिए उसके महाकाव्यों में नायक आत्मकेन्द्रित होता है। गीति काव्य में उदासी, निराशा, वेदना, व्यथा का चित्रण होता है। अतिशय व्यक्तिवाद के खिलाफ आगे चलकर 'इलियट' ने निर्वेयक्तिक की बात उठाई।

८) सौंदर्य के प्रति मोह : स्वच्छंदतावादी कवि सौंदर्य प्रेम और सौंदर्य के प्रति जिज्ञासा और मोह दोनो अनिवार्य तत्व मानता है। कल्पना के कारण यह प्रवृत्ति ज्यादा उभर कर आई है। कीट्स ने कहा, "सौंदर्य अमर है"।

९) संगीतात्मकता : स्वच्छंदतावादी कवियों में संगीत और लय उनके सरल भाषा के कारण दृष्टिगत होती है।

स्वच्छंदतावादी कविता का काल १८ वीं सदी के अंतिम दशक से आरम्भ होकर १९ वीं शताब्दी के मध्य तक आता है। यह आंदोलन फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैंड में अनेक स्थलों में प्रकट हुआ। इंग्लैंड में यह ब्लेक से लेकर कीट्स, रॉली वायरन तक आता है। वड्र्सवर्थ, कोलरिज इसके प्रवर्तक थें। यह आंदोलन नव अभिजात्यवाद के खिलाफ प्रतिक्रिया स्वरूप आया था जिसका सूत्रपात फ्रांसीसी क्रांति से हुआ। समता, बंधुत्व व स्वतंत्रता की भावना ने इसे अनुप्रेरित किया। हिन्दी मे छायावाद को भी स्वच्छंदतावाद के रूप में देखा जा सकता है। ये सभी प्रवृत्तियाँ छायावादी कविता में मौजूद हैं। स्वच्छंदतावाद को रूढ़ियों से मुक्ति की चेतना माना जाता है। स्वच्छंदतावाद में वैयक्तिक प्रतिमा और कल्पना से प्रेरित मौलिक रचनात्मक और नए प्रयोगों पर ज्यादा बल दिया गया। हिन्दी में छायावादी कवियों की रचनाएँ भी इन्ही स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित हैं और हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने में इनका योगदान अप्रतिम है।

munotes.in

७.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थी मार्क्सवाद व उसकी विशेषताओं का अध्ययन कर सके, अभिजात्य वाद का अर्थ स्वरूप, अवधारणा के साथ उसकी विशेषताओं से अवगत हुए। स्वछंदतावाद का अंग्रेजी और ग्रीक साहित्य में स्थान व महत्त्व के साथ समग्र साहित्य में स्वछंदतावाद के प्रभाव को जान सके।

७.६ लघुत्तरीय प्रश्न

१) मार्क्स के विचारों का मूल क्या है ?

२) मार्क्सवाद की शब्दावली में वर्गहीन समाज को क्या कहेंगे ?

३) वर्ग संबंधी सिद्धांत किसने दिया ?

४) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत किसने दिया ?

५) मार्क्सवाद किसमें विश्वास रखता है ?

६) अभिजात्यवाद को अंग्रेजी में क्या कहा जाता है ?

७) अभिजात्यवाद का आरंभ किस व्याख्याकार से माना जाता है ?

८) इंग्लैंड में अभिजात्यवाद कब दृष्टिगोचर हुआ ?

९) अभिजात्य की कला मूलता किस प्रकार की होती है ?

१०) साहित्यिक प्रकृती के उन्मेष को क्या कहा गया ?

११) हिन्दी साहित्य में स्वछन्दतावाद का प्रभाव कब हुआ ?

१२) स्वछंदतावाद ने अपनी वाणी किसे दी ?

१३) स्वछंदतावाद का प्रारंभिक प्रस्फुटन कहाँ हुआ ?

१४) कोलरिज पर किसका गहरा प्रभाव था ?

१५) कोलरिज ने कल्पना के लिए क्या आवश्यक माना ?

७.७ बोध प्रश्न

१) कार्लमार्क्स की अवधारणा स्पष्ट करते हुए, उसके सिद्धांतो पर विस्तृत चर्चा कीजिए।

२) अभिजात्य वाद का अर्थ, स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसकी प्रवृत्तियों का वर्णन कीजिए।

३) स्वछंदतावाद की विकासयात्रा के साथ विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

७.८ सहयोगी पुस्तके

५) पाश्चात्य काव्य सिद्धांत - डॉ. शांति स्वरूप गुप्त

६) पाश्चात्य काव्य शास्त्र - देवेन्द्रनाथ वर्मा

७) पाश्चात्य काव्य चिंतन - डॉ. निर्मला जैन

❖❖❖❖

munotes.in

इकाई - ८ प्लेटो का काव्य सिद्धांत

इकाई - ९ अरस्तु का अनुकरण सिद्धांत, त्रासदी सिद्धांत

इकाई - ९.१ अरस्तु का विरेचन सिद्धांत

इकाई - १० लोंजाइनस : उदात्त संबंधी मान्यताएँ

लेखक - डॉ. सत्यवती चौबे

munotes.in

इकाई -८

प्लेटो का काव्य सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा :

८.१ इकाई का उद्देश्य
८.२ प्लेटो के काव्य सिद्धांत की प्रस्तावना
८.३ विषय का विस्तृत अध्ययन
८.४ सारांश
८.५ बहुविकल्पीय प्रश्न
८.६ लघूत्तरीय प्रश्न
८.७ संभावित दीर्घोत्तरी प्रश्न
८.८ अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

८.१ इकाई का उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को पाश्चात्य काव्य शास्त्र से परिचित करवाते हुए प्लेटो के काव्य संबंधी सिद्धांतों के विषय में विस्तृत जानकारी प्रदान करना है। इसके साथ ही काव्य शास्त्रीय चिंतन में प्लेटो के अक्षुण्ण योगदान की विस्तृत चर्चा करना है। इस इकाई का उद्देश्य यह स्पष्ट करना भी है कि प्लेटो मूलतः एक दार्शनिक थे, इसलिए इन्होंने सृष्टि के जीवन जगत के शाश्वत प्रश्नों पर मंथन करते हुए परम सत्य की परिकल्पना की और उसी के प्रकाश में जीवन-जगत का विवेचनात्मक मूल्यांकन किया।

८.२ प्लेटो के काव्य सिद्धांत की प्रस्तावना

प्लेटो यूनान के महान दार्शनिक थे। वे दार्शनिक, चिंतक सुकरात के शिष्य थे। इनका जन्म ई.पू. ४२७ में एथेन्स के एक सुप्रसिद्ध परिवार, पिता 'अरिस्टोन' और माता 'परिक्टियोन' के घर हुआ था। प्लेटो पर सुकरात के विचारों का गहरा प्रभाव था। ऐसा माना जाता है कि इन्होंने अपने जीवन में २३ संवाद और १३ आलेख, कुल मिलाकर ३६ ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें इनके दर्शन, राजनीति, ज्ञान-विज्ञान, वैज्ञानिक अनुसंधान, शासन व्यवस्था, नैतिकता आदि से संबंधित विचार-चिंतन-मनन प्रकट हुए हैं। इन ग्रंथों में पोलिटिया (दि रिपब्लिक), नोमोइ (दि लॉज), आयोन 'द स्टेट्समैन' प्रमुख हैं। इन्होंने काव्यशास्त्र के संबंध में कोई भी ग्रंथ अलग से नहीं लिखा है, वरन् इनके राजनीतिक एवं दार्शनिक सिद्धांतों में

munotes.in

ही साहित्य से संबंधित, कवि-कलाकार एवं उनकी कला से संबंधित विचार प्रकट हुए हैं। जिसे इनके दो ग्रंथों विशेषतः 'आयोन' और 'दि रिपब्लिक' में देखा-पढ़ा जा सकता है। प्लेटो ने ई.पू. ३८७ में 'अकादमी' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य था दर्शन और विज्ञान से संबंधित अनुसंधानों को व्यवस्थित रूप से विकसित करना। इसे युरोप का पहला विश्वविद्यालय माना जा सकता है।

यहीं पर इन्होंने लगभग ४० वर्षो तक ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन एवं शोध कार्यों का संचालन किया। ई.पू. ३४७ में इनका देहावसान हुआ, परन्तु इनके विचार-सिद्धान्त आज भी जीवन-जगत के अनेक विषय-वस्तु के संदर्भ में जीवित हैं।

८.३ विषय का विस्तृत अध्ययन

प्लेटो आदर्शवादी सुधारक और प्रत्ययवादी दार्शनिक थे। वे सत्य के उपासक और तर्कशीलता के हिमायती थे। वे स्वयं एक कवि ह्रदय संपन्न विभूति थे। परन्तु तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक-सामयिक-आर्थिक विसंगतियों, विकृतियों से युक्त समाज में जिस तरह से सत्य-यथार्थ-नैतिकता-आदर्श से परे हटकर काव्य-सृजन महज ऐन्द्रिय सुख के लिए हो रहा था, उसका इन्होंने घोर विरोध किया। उन्होंने काव्य और कला को 'आनंद और सौन्दर्य' की कसौटी पर न कस कर उसकी 'उपयोगितावाद' पर कसा। उनका मानना है कि "एक गोबर से भरी टोकरी भी सुंदर है जिसकी कोई उपयोगिता है। इसके विपरीत रत्नजड़ित सोने की चमचमाती ढाल भी असुंदर है, यदि उसकी कोई उपयोगिता नहीं है।"

प्लेटो के पहले या उनके समय में भी कवि को उपदेशक, मार्गदर्शक, संस्कृति का संरक्षक और सम्माननीय माना जाता था। वे स्वयं तत्कालीन कवि होमर का सम्मान करते थे, लेकिन उनकी काव्यगत विषय वस्तुओं के आधार पर उनकी घोर उपेक्षा करते थे। कारण यह था कि होमर के काव्यों में देवी-देवताओं का चरित्र अत्यंत विकारयुक्त, क्षुद्र-पतित और गिरी हुई नैतिकता से युक्त दिखाया गया था। उनके अधिकांश पात्र पतित रोते-विलाप करते, अनैतिक आचरण युक्त थे। इस तरह के तमाम ऐसे कारण थे; जिससे प्लेटो काव्य को समाजोपयोगी और लोक कल्याणकारी नहीं मानते थे; इसलिए इन्होंने ऐसे काव्य और कला को समाज के लिए घातक माना। इसके विषय में वे मानते थे - कवि या कलाकार भावावेग और भावनाओं के वशीभूत होकर तर्करहित साहित्य सृजन करता है जो कि पूर्णतः अवैज्ञानिक होती हैं और समाज को उत्तेजित कर उसे अनैतिक, अनुशासनहीन और उच्छृंखल बनाती हैं। इसलिए ऐसे कवि या कलाकार की रचनाओं से समाज को बचाने की आवश्यकता है। अपनी पुस्तक 'द रिपब्लिक' में वे लिखते हैं - "It shall be no argument that a poem or poet is charming, admirable or even sacred when arguments of aesthetics" अर्थात वे कवि या कविता को उसी सीमा तक ग्राह्य मानते थे जिस सीमा तक वह राज्य तथा मानव-जीवन के लिए लाभप्रद हो।

प्लेटो की स्पष्ट मान्यता थी कि काव्य मिथ्या जगत की मिथ्या अनुकृति है। कवि या कलाकार जिन विषय-वस्तु-व्यक्ति-स्थितियों की अनुकृति करता है, वे भौतिक जगत में पहले से ही मौजूद है। कवि जिन वस्तुओं का अनुकरण करता है, उनका सत्य रूप तो केवल विचार रूप में अलौकिक जगत में है। ऐसी स्थिति में कवि या साहित्यकार सिर्फ़ नकल की नकल करता

है, मिथ्या जगत की मिथ्या अनुकृति करता है, जो सत्य से दो गुना दूर रहता है अतः ऐसी कृतियाँ कदापि वांछनीय नहीं हैं। प्लेटो ने संपूर्ण ब्रहमांड में ईश्वर की सत्ता को सत्य माना। उसी की अखंड सत्य की मानसिक रचना की अनृकृति यह प्रकृति या सृष्टि है। रचनाकार काव्य देवी से आविष्ट होकर ही रचना करने में समर्थ होता है। काव्य देवी की प्रेरणा से रचनाकार देश, काल, सीमाओं का उल्लंघन करके ऐसे अनदेखे पात्रों, घटनाओं, परिस्थितियों का चित्रण करने में समर्थ होता है जो सजीव और साक्षात प्रतीत हो, ऐसां वह किसी विशिष्ट शक्ति के प्रभाववश ही कर सकता है। प्लेटो ने काव्य की प्रेरणा या हेतु के लिए काव्य देवी के आवेश के साथ-साथ कला अर्थात काव्यशास्त्रीय ज्ञान और काव्य शास्त्र के नियमों के अनुकूल रचनाकर्म को आवश्यक मानता है। अब प्रश्न उठता है कि जब कवि काव्य देवी से आविष्ट होकर रचना करता है तो काव्य का प्रभाव समाज पर बुरा या अशुभ कैसे पड़ सकता है? प्लेटो काव्य की प्रेरणा को दैवी मानते हुए भी काव्य का विरोध क्यों करते हैं? इसके लिए प्लेटो के युग में सृजित साहित्य पर प्रकाश डालना आवश्यक हैं। तत्कालीन साहित्य के रचनाकारों के काव्यों में देवी-देवता को क्षुद्र, पतित, चरित्रहीन, हिंसा, चोरी, धोखाधड़ी, झूठ, द्वेष, ईर्ष्या आदि तमाम अनैतिक आचरण करते हुए दर्शाया गया। उनका स्वरूप आदर्श, महान और गौरवशाली नहीं था। उस युग के काव्य में काल्पनिकता, अतिरंजिता, अतिशय भावुकता, अज्ञानता, अनैतिकता, अनाचार आदि विकृतियों की अतिशयता थी, पात्रों का चरित्र पतित हीनताग्रस्त था। प्लेटो ऐसे साहित्य को समाज के लिए घातक स्वीकारते हैं। वे काव्य सृजन में असत्य, अज्ञान व सतर्क के स्थान पर सत्य, ज्ञान, आदर्श और तर्क की पूर्ण प्रतिष्ठा चाहते थे। वे उस कविता को स्वीकार करते हैं जो आनंद प्रदान करने के साथ ही जनमानस में संयम, सद्भाव, नैतिकता और सदाचार को प्रेरित करे। उनका उद्देश्य लोगों की आत्मा में संयम, न्यायप्रियता, कर्तव्यनिष्ठा एवं सद्भावना के संस्कार डालना और अन्याय, असंयम, दुराचार व अपराध की प्रवृत्तियों को दूर करना है। वे ऐसे सभी काव्य को सहर्ष स्वीकार करने को तैयार हैं जो मनुष्य में सद्वृत्तियों को जगाता है, उन्हें सत्य की ओर प्रेरित करता है तथा उनके जीवन को अनुशासन, संयम एवं व्यवस्था प्रदान करता है। वास्तव में प्लेटो ने काव्य का जो विरोध किया है, उसका आधार उनका युग काव्य है, मगर वे काव्य-मात्र के विरोधी नहीं, वरन् स्वयं कवि-ह्रदय थे। उनका मानना था कि यदि काव्य का रूप, प्रेरणा, प्रभाव आदि ऐसे हों, जो व्यक्ति को मूल एवं परम सत्य से दूर ले जाते हों, तो ऐसा काव्य सर्वधा त्याज्य है। वे काव्य में उदात्त चरित्र को प्रतिष्ठित कर समाज में आदर्श की स्थापना के हिमायती थे। चूँकि काव्य का समाज पर बड़ा गंभीर प्रभाव पड़ता है; इसलिए उनका मानना था कि ऐसा काव्य जिसके प्रभाव से पाठक या श्रोता के मन में सद्वृत्तियों, निर्मल भावों का संचार हो तथा जो उसे सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे, वह निश्चय ही काम्य एवं मूल्यवान माना जाएगा। मगर जिस काव्य के श्रवण या पठन आदि से बुद्धि-विवेक कुंठित हो जाए, निम्न वृत्तियों का पोषण हो तथा निम्न कोटि के ऐन्द्रिय आनंद की उपलब्धि हो, वह निश्चय ही त्याज्य है।

एक आदर्शवादी दार्शनिक होने के कारण प्लेटो ने काव्य को दर्शन के चश्मे से या दर्शन के स्तर पर रखकर देखने की कोशिश की। उन्होंने दर्शन और काव्य को परस्पर विरोधी माना। दार्शनिक होने के कारण उसकी दृष्टि सदा तर्क और बौद्धिकता पर रहती थी। अतः उसने कल्पना या फैंटेसी को सदा तिरस्कृत करते हुए कवि द्वारा प्रस्तुत झूठे बिम्ब और चित्र से युक्त काव्य का, भाव-उच्छलन का नितान्त विरोध किया क्योंकि उन्होंने 'फला जीवन के लिए' सिद्धांत के साथ ही काव्य कला को कला की दृष्टि से न देखकर समाज कल्याण की दृष्टि से परखा है। कला की प्रकृति के संदर्भ में इन्होंने आदर्श, न्याय, सौंदर्य और सत्य की प्रतिष्ठा की बात सबसे पहले कही थी, जिसके विषय में उनके बाद के अनेक-अनेक काव्यशास्त्रियों ने

चिन्तन-मनन कर सत्य का दर्शन किया और ऐसे सिद्धांतों की प्रतिष्ठा की, जो चिरंतन और मूलतः तात्विक कहे जा सकते हैं। कला में अनुकरण और आनंद की बात भी सर्वप्रथम प्लेटो ने ही कही। उनके भाव्यगत न्याय काव्य प्रेरणा सम्बन्धी विचार भी मौलिक थे। उनका मत था कि मानव चरित्र में जो कुछ भी उदात्त तथा महान हो, वही काव्य का विषय-वस्तु बनाया जाए, काव्य का सत्य सार्वभौम एवं सार्वकालिक होना चाहिए। शैली और भाषा के विषय में उनका मानना है कि शैली कवि के चरित्र का प्रतिबिम्ब है और भाषा पर विदेशी संसर्ग तथा समकालीन परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है।

प्लेटो ने काव्य का वर्गीकरण करते हुए उसे त्रासदी और कामदी के सम्बन्ध में भी अपना विचार रखा और त्रासदी को महाकाव्य से निम्न कोटि का माना है। आदर्श त्रासदी उच्चतम, एवं शालीनतम जीवन की अनुकृति है। अतः आदर्श त्रासदी समाज के हित में हो सकता है। प्लेटो ने काव्य के माध्यम से अभुक्त मनोवेगों की अभिव्यक्ति, भोग, अनुभावन आदि की बात कहकर विरेचन सिद्धांत पर भी अपनी बात स्पष्ट की थी।

इस प्रकार, निष्कर्ष के रूप में यह कहना आवश्यक है कि प्लेटो का काव्य सिद्धान्त दर्शन की अवधारणाओं से पूर्णतः प्रभावित रहा है। उन्होंने काव्य की अनुकरणात्मकता को लेकर काव्य सत्य, काव्य प्रेरणा काव्य वस्तु आदि पर सर्वप्रथम मौलिक तथ्य, तर्क प्रस्तुत किया है। उनकी काव्यशास्त्रीय दृष्टि समाज-परक, नैतिक, आदर्शवादी थी। उनके विचार से न्याय व्यवस्था, संयम, अनुशासन आदि में काव्य का अहम योगदान होना चाहिए।

अतः काव्य सृजन में आदर्श समाज, नैतिकता, लोक मंगल की भावना और उसकी सामाजिक उपयोगिता, उपादेयता परम आवश्यक है। इन्होंने श्रेष्ठ काव्य के गुणों में न्याय का पालन, भाषा की सरलता, धार्मिक-नैतिक-वीरोदत्तात आदर्श विषय वस्तु, कल्पना और अतिशय भावुकता का घोर विरोध किया। कवि में ईश्वर प्रदत्त शक्ति, आवश्यक नियमों का ज्ञान एवं अभ्यास पर बल दिया। इन्होंने सत् -असत् काव्य में सदैव शिवं का समर्थन किया, काव्य के तीन प्रयोजनों क्रमशः सत्य का उद्घाटन, मानव कल्याण एवं राष्ट्रोत्थान को सर्वोपरि मानकर साहित्य सृजन को महत्व दिया।

इस प्रकार प्लेटो ने मनुष्य को व्यापक परिवेश में सोचने के लिए प्रवृत्त किया। उनके समय तक कविता शिल्प-कला की मात्र एक प्रक्रिया समझी जाती थी परन्तु प्लेटो ने कविता को मानव जीवन से जोड़ते हुए उसे एक स्वतंत्र रूप प्रदान किया। उनके पश्चात अरस्तु, लोंजाइनस और उनके परवर्ती काव्य शास्त्र के प्रबुद्ध मनीषियों ने उनके द्वारा निरूपित सिद्धान्तों से प्रेरणा ली। पाश्चात्य काव्य के प्रथम आचार्य प्लेटो आजीवन श्रेष्ठ और उदात्त के पक्षपाती थे। उनके द्वारा स्थापित मान्यताएँ, सिद्धान्त और मानदंड आज भी चिंतनीय, विचारणीय हैं तथा अनेक परवर्ती साहित्यकारों के साथ-साथ आज के रचनाकारों के लिए भी प्रेरणा स्त्रोत है।

८.४ सारांश

प्लेटो के काव्य सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना के सारांश को निम्नलिखित बिन्दुओं में सन्निहित किया गया है : -

munotes.in

१. कवि दैवी प्रेरणा और आवेश में आकर काव्य की रचना करता है। अतः उसकी वाणी ईश्वर की वाणी होती है। परन्तु उसके वर्णन सच्चे, वास्तविक और तर्क पर आधारित नहीं रहते हैं। अतः वे त्याज्य हैं।

२. कवि मनुष्य की वासनाओं को उभार कर समाज को असंयत अनैतिक, पतित बनाता है, सामाजिक व्यवस्था को भंग करता है। अतः ऐसे कवि और उनकी कविता दोनों समाज के लिए अहितकर, अनुपयोगी और घातक होती हैं।

३. काव्य की कसौटी सत्य, आदर्श, श्रेष्ठत्व, सदाचार, उपयोगिता और उपादेयता है।

४. प्लेटो के अनुसार काव्य के तीन प्रयोजन हैं - सत्य का उद्घाटन, मानव कल्याण और राष्ट्रोत्थान। इन पर आधारित कविताओं को ही उन्होंने श्रेष्ठ माना और काव्य में काल्पनिकता, अतिरंजितता, भावुकता और अजानता को पूर्णतः नकार दिया।

५. मिथ्या पर आधारित प्रत्येक कवि-कलाकार और उसकी रचनाएँ सर्वथा त्याज्य है। उस कवि का महत्व मोची से भी कम है और वह समाज में दुर्बलता - अनाचार - अन्याय का पोषण करने का अपराध करता है।

६. कविता, जगत की अनुकृति है, जगत ईश्वर की मानसिक रचना की अनुकृति है। कवि अपनी कविता में जगत की अनुकृति का अनुकरण करता है, अतः कविता सत्य से दोगुनी दूर है।

७. कलाकार वास्तविक जीवन के पदार्थों को उत्पन्न नहीं करते, वे केवल उनकी छायाओं, बिम्बों का निर्माण करते हैं।

८. आदर्श, वास्तविकता और अनुकृति, वस्तु के तीन रूप होते हैं। ईश्वर के मानसिक आदर्श के अनुसार इस सृष्टि की रचना हुई है। कला और काव्य उसकी अनुकृति होने के कारण सत्य से दो-गुना दूर है। कविता और कला में वस्तु के साथ-साथ उसका रूप, काव्य में संगीतात्मकता - लय-छंद, भाषा आदि महत्त्वपूर्ण होता है।

९. प्लेटो ने श्रेष्ठ काव्य हेतु कल्पना, बिम्ब, अतिशय भावुकता का निषेध किया, भाषा की सरलता, सहजता, आदर्श - सत्य पर आधारित व्यापक विषय वस्तु, शिवं का समर्थक बौद्धिक आनंद का पक्षघर और कवि में शक्ति, ज्ञान और अभ्यास का पक्षधर था।

१०. प्लेटो आदर्शवादी समाज-सुधारक, दार्शनिक और आदर्श, सत्य का प्रबल समर्थक था। उसने पश्चिम में सर्वप्रथम काव्य समीक्षा को व्यवस्थित रूप पदान किया। उसने कविता के स्वरूप, गुण, दोष, शैली आदि की स्थापना की। कविता को एक स्वतंत्र रूप प्रदान किया। प्लेटो द्वारा काव्य के लिए निर्धारित किए गए प्रतिमानों, काव्य कसौटियों को केन्द्र में रखकर अनेक परवर्ती प्रबुद्ध जनों ने अपना काव्यशास्त्रीय विवेचन, सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

८.५ बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न १ प्लेटो किसका शिष्य था ?

क) अरिस्टोफनीज ख) होमर ग) सुकरात घ) अरस्तू

उत्तर सुकरात

प्रश्न २ पाश्चात्य काव्यशास्त्र का पहला आचार्य कौन था ?

क) सुकरात ख) प्लेटो ग) अरस्तू घ) लोंजाइनस

उत्तर प्लेटो

प्रश्न ३ पाश्चात्य काव्य चिंतन का श्रीगणेश कहाँ हुआ था ?

क) यूनान ख) इटली ग) फांस घ) रोम

उत्तर यूनान

प्रश्न ४ प्लेटो काव्य में किसका समर्थक था ?

क) काल्पनिकता ख) अतिरंजिता

ग) अतिशय भावुकता घ) सत्य व आदर्श

उत्तर सत्य व आदर्श

प्रश्न ५ प्लेटो ने सर्वप्रथम काव्य के किस सिद्धांत का प्रतिपादन किया था ?

क) अनुकरण का सिद्धांत ख) संप्रेषण का सिद्धांत

ग) अभिव्यंजना का सिद्धांत घ) निवेयक्तिकता का सिद्धांत

प्रश्न ६ प्लेटो इनमें से किसे काव्य प्रयोजन नहीं मानता था ?

क) सत्य का उद्घाटन ख) सौन्दर्यानुभूति

ग) मानव कल्याण घ) राष्ट्रोत्थान

उत्तर सौन्दर्यानुभूति

प्रश्न ७ प्लेटो को काव्य-सिद्धान्त का खंडन किसने किया ?

क) होमर ख) अरस्तू ग) लोंजाइनस घ) क्रोचे

उत्तर अरस्तू

प्रश्न ८ प्लेटो का समकालीन कवि कौन था ?

क) वड्र्सवर्थ ख) होमर ग) इलियट घ) होरेस

उत्तर होमर

प्रश्न ९ प्लेटो ने काव्य की प्रेरणा किसे माना ?

क) दैवी प्रेरणा ख) प्रकृति ग) परिवेश घ) निसर्गजात प्रतिभा

उत्तर दैवी प्रेरणा

प्रश्न १० प्लेटो किस तरह के काव्य को महत्त्व देते थे ?

क) जो सत्य, ज्ञान पर आधारित हो ख) जो कल्पना पर आधारित हो

ग) जो अतिरंजित व भावुक हो घ) इनमे से सभी

उत्तर जो सत्य, ज्ञान पर आधारित हो।

munotes.in

८.६ लघूत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १ प्लेटो कौन था?

उत्तर प्लेटो, सुकरात का शिष्य, अरस्तू का गुरु, एक आदर्शवादी सुधारक, दार्शनिक था। वह आदर्श, सत्य और उदात्त का प्रबल समर्थक था।

प्रश्न २ प्लेटो का जन्म कब कहाँ हुआ था?

उत्तर प्लेटो का जन्म ई. पू. ४२८ में एथेन्स या एजिना में हुआ था।

प्रश्न ३ प्लेटो ने किस संस्था की स्थापना की थी?

उत्तर प्लेटो ने ई.पू. ३८७ में अकादमी की स्थापना एथेन्स में की थी, जिसे यूरोप का पहला विश्वविद्यालय कहा जाता है। अकादमी का मुख्य उद्देश्य दार्शनिक और वैज्ञानिक अनुसंधान का व्यवस्थित विकास करना था।

प्रश्न ४ प्लेटो की प्रमुख रचनाएँ कौन-कौन सी हैं?

उत्तर 'दि रिपब्लिक', 'दि स्टेट्समैन', 'दि लाज' प्लेटो की प्रमुख रचनाएँ हैं।

प्रश्न ५ कला और काव्य से सम्बन्ध में प्लेटो के विचार उनके किस ग्रंथ में पाए गए हैं?

उत्तर 'दि रिपब्लिक', 'आयोन' में पाए गए हैं।

प्रश्न ६ प्लेटो के अनुसार कवि किसकी प्रेरणा से काव्य रचता हैं?

उत्तर प्लेटो के अनुसार कवि दैवी प्रेरणा और भावावेश में आकर काव्य रचता है।

प्रश्न ७ प्लेटो के लिए काव्य की कसौटी क्या है?

उत्तर प्लेटो के लिए काव्य की कसौटी सत्य, ज्ञान, आदर्श, श्रेष्ठत्व, सदाचार, उपयोगिता व उपादेयता है।

प्रश्न ८ प्लेटो ने किस तरह की रचनाओं को त्याज्य बताया है?

उत्तर प्लेटो ने मिथ्या पर आधारित प्रत्येक रचना को त्याज्य माना है।

प्रश्न ९ कविता के संबंध में प्लेटो की क्या धारणा थी?

उत्तर कविता के संबंध में प्लेटो की धारणा थी यह मनुष्य की वासनाओं - मनोविकारों को उभार कर समाज को अनैतिक पतित, अनुपयोगी, कुमार्गी, पथभ्रष्ट बनाती है।

प्रश्न १० प्लेटो के अनुसार काव्य का प्रयोजन क्या है?

उत्तर प्लेटो के अनुसार काव्य का प्रयोजन है - सत्य का उद्घाटन, मानव-कल्याण, राष्ट्र का उत्थान।

प्रश्न ११ काव्य - कला के संदर्भ में प्लेटो का क्या विचार था?

उत्तर प्लेटो काव्य कला को अनुकृति मानते थे। उनका मानना था कि काव्य-कला जीवन-जगत की अनुकृति है। जीवन-जगत ईश्वर की सृष्टि है अतः जीवन-जगत स्वयं अनुकृति है। अतः कविता कला अनुकृति की अनुकृति होकर सत्य से दो गुना दूर है।

munotes.in

८.७ संभावित दीर्घोत्तरी प्रश्न

१. प्लेटो के काव्य-सम्बन्धी सिद्धांतो पर प्रकाश डालिए।
२. प्लेटो की काव्य-सम्बन्धी अवधारणा का परिचय दीजिए।
३. प्लेटो की काव्य दृष्टि को प्रतिपादित कीजिए।
४. प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
५. प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।

नोट : उत्तर दिए गए अध्ययन सामग्री के आधार पर लिखिए।

८.८ अध्ययन हेतू सहायक पुस्तकें

इस इकाई के अंतर्गत प्लेटो अरस्तू और लोंजाइनस के काव्य संबंधी विचारों का गहनतम अध्ययन करने के लिए कुछ सहायक पुस्तकों के नाम दिए गए हैं।

१. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र - डॉ. निर्मला जैन
२. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र - देवेन्द्र नाथ शर्मा
३. पाश्चात्य काव्य के सिद्धांत - डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त
४. पाश्चात्य काव्य चिंतन - डॉ. करुणा शंकर उपाध्याय
५. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के प्रतिमान - डॉ. हरीश अरोड़ा
६. काव्य चिंतन की पश्चिमी परंपरा - डॉ. निर्मला जैन
७. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, इतिहास, सिद्धांत और वाद - डॉ. भगीरथ मिश्र
८. पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास - डॉ. तारकनाथ बाली
९. काव्यशास्त्र - डॉ. भगीरथ मिश्र
१०. समीक्षा के विविध आयाम - डॉ. रामजी तिवारी

❖❖❖❖

munotes.in

इकाई-९

अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत, त्रासदी सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा :

९.० इकाई का उद्देश्य

९.१ प्रस्तावना

९.२ अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत, त्रासदी एवं विरेचन सिद्धांत

९.३ विषय का विस्तृत अध्ययन

  ९.३.१ अरस्तु का अनुकरण सिद्धांत

  ९.३.२ अरस्तु का त्रासदी सिद्धांत

९.४ सारांश

९.५ बहुविकल्पीय प्रश्न

९.६ लघूत्तरीय प्रश्न

९.७ संभावित दीर्घोत्तरी प्रश्न

९.८ अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

९.० इकाई का उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को अरस्तू के काव्य संबंधी मान्यताओं से भली-भाँति परिचित करवाना है। यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने अनुकरण सिद्धांत, त्रासदी सिद्धांत पाश्चात्य काव्य शास्त्र में मील का पत्थर साबित हुआ, उसकी तर्क सम्मत, विस्तृत और वैज्ञानिक विवेचना की। इसकी जानकारी विस्तार से विद्यार्थियों को देना इस इकाई का मूल उद्देश्य है।

९.१ प्रस्तावना

'विरेचन के सिदधांत' में अरस्तू ने प्रतिपादित किया है कि त्रासदी के पठन और प्रेक्षण के उपरांत मन में जिस करुण एवं भय का संचार होता है उसके परिणाम स्वरूप मनुष्य की सहन शक्ति बढ़ती है, व्यावहारिक जीवन में करुणा और भय के प्रचंड आवेगों को सहने की शक्ति आती है। अरस्तू ने दुखान्त नाटकों की मीमांसा करते हुए विरेचन के सिद्धांत की कल्पना की है जिसका उद्देश्य पाठकों-दर्शकों के मन-मस्तिष्क में विद्यमान वाहृय विकारों की उत्तेजना, मनोविकारों की उत्तेजना और उनके शमन द्वारा आत्मा की शुद्धि और मन की शान्ति से है।

munotes.in

१.२ अरस्तु का अनुकरण सिद्धांत, त्रासदी सिद्धांत

अरस्तू का कालखंड ३७४ ई.पू. से ३२२ ई. पूर्व तक माना जाता है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू, यूनानी दार्शनिक और पाश्चात्य काव्य के प्रथम आचार्य प्लेटो के शिष्य थे और विश्व विजेता सिकंदर के गुरु थे। इन्होंने विभिन्न विषयों पर आधारित लगभग ४०० ग्रंथों की रचना की। साहित्य संबंधी विचारों का आधार उनके द्वारा रचित दो ग्रंथ है - Poetics (काव्यशास्त्र) और Rhetarios (भाषणशास्त्र)। अरस्तू की 'पोइटिक्स' ग्रंथ में काव्य के स्वरूप, भेदों, उनके अंगों, तत्वों, रचना-विधान, काव्य के प्रभाव आदि पर व्यवस्थित विचार किया गया है। यह ग्रंथ पाश्चात्य काव्य शास्त्र का प्रकाश स्तंभ है, जिसके आधार पर आगे चलकर पाश्चात्य काव्य शास्त्र में काव्य और नाटक के संबंध में चिन्तन-मनन हुआ, उनका विकास हुआ। इनके द्वारा रचित दूसरे ग्रंथ 'रिटेरिअस' में वक्तृत्व कला या अलंकार की विस्तृत विवेचना हुई हैं; जिसमें गद्यात्मक शैली में दिए जाने वाले भाषण के अलंकरण पर विस्तृत चर्चा हुई है, भाषण को प्रभावशाली बनाने वाले गुणों का विश्लेषण हुआ है। इसके अतिरिक्त अरस्तू ज्ञान-विज्ञान संबंधी लगभग प्रत्येक विषय - प्रत्येक क्षेत्र में अपनी गहरी पकड़ रखते थे।

१.३ विषय का विस्तृत अध्ययन

अनुकरण के सिद्धांत के संबंध में उनका मानना है कि काव्य जीवन और प्रकृति का अनुकरण है। काव्य की मूल प्रेरणा अनुकरण ही है। जिस प्रकार एक चित्रकार अपनी चित्रकला में जीवन को तीन रूपों में प्रस्तुत करता है, पहला वह जीवन को जिस रूप में देखता है उसे उसी रूप में प्रस्तुत करता है, दूसरा वह जो कुछ देखता है उसे उससे उत्तम रूप में प्रस्तुत करता है, तीसरा वह उसे निकृष्ट रूप में प्रस्तुत करता है, ठीक उसी प्रकार एक कवि, कलाकार या साहित्यकार भी अपनी रचनाओं में जीवन को प्रस्तुत करते समय चित्रकार की दृष्टि अपनाता है, इस प्रकार वह भाषा के माध्यम से अपनी सृजनात्मकता को उद्घाटित करता है। ऐसे में काव्य जीवन और प्रकृति का अनुकरण है।

त्रासदी सिद्धांत में 'त्रासदी' का तात्पर्य त्रास अर्थात् कष्ट देने वाला है। पाश्चात्य काव्य शास्त्र में दो प्रकार के नाटकों क्रमशः सुखात्मक और दुखात्मक की रचना हुई। सुखात्मक को अंग्रेजी में कॉमेडी और हिन्दी में 'कामदी' कहा गया, तो वहीं दुखात्मक को अंग्रेजी में ट्रैजेडी और हिन्दी में त्रासदी कहा गया है। अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने त्रासदी पर अपने विचार प्रकट किए थे। इस संदर्भ में उनका मानना है कि त्रासदी उच्चतम तथा शालीनतम जीवन की अनुकृति होती है और त्रासदी लेखक इसके माध्यम से समाज का सदैव कल्याण करता है।

अरस्तू के समग्र साहित्यिक चिन्तन की विस्तृत विवेचना करने के लिए इनके तीनों सिद्धांतों को इन विन्दुओं में देखा जा सकता है -

क) अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत
ख) अरस्तू का त्रासदी सिद्धांत

१.३.१ अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत :

'अनुकरण' शब्द यूनानी भाषा के 'Mimesis' - 'मीमेसिस' शब्द का हिन्दी अनुवाद है। इसे अंग्रेजी में इमिटेशन (Imitation) कहा गया है। और वहीं से यह शब्द हिन्दी में आया है। अरस्तू के गुरु प्लेटो ने सबसे पहले अनुकरण सिद्धांत की स्थापना की थी। प्लेटो के अनुसार संपूर्ण सृष्टि में एक मात्र ईश्वर ही सत्य है। ईश्वर की मानसिक संरचना की अनुकृत यह संसार है और संसार की अनुकृति काव्य है। इस प्रकार काव्य - कला अनुकरण का अनुकरण है। अतः काव्य सत्य से दो गुना दूर है इसलिए त्याज्य है, समाज हित में नहीं है।

अरस्तू ने प्लेटो द्वारा प्रयुक्त 'Mimesis' शब्द को एक नए अर्थ में स्वीकार किया। उन्होंने प्लेटो के समान हू-ब-हू नकल को अनुकरण नहीं माना है। उनका मानना है कि प्रकृति में व्याप्त अनेक दोष व अभाव भी अनुकरण की प्रक्रिया से कला द्वारा पूरे किए जा सकते हैं।

"Generally Art partly complet's what nature can not." इन्होंने 'अनुकरण' का तात्पर्य प्रतिकृति भी नकल से न मानते हुए उसे पुनःसृजन या पुनर्निर्माण से माना है। अनुकरण एक सर्जनात्मक क्रिया है। अरस्तू का मानना है कि कवि या कलाकार प्रकृति या मानव जीवन-जगत की यथावत (यानि कि हुबहू) नकल नहीं करता है बल्कि अपनी सृजनात्मक शक्ति एवं कौशल से उसमें अपनी तरफ से कुछ जोड़ता है तो उसमे से अपनी तरफ से कुछ छोड़ता है। वह यथार्थ स्थिति को मनमोहक-आकर्षक सुन्दर बनाने का प्रयास करता है। उनके अनुसार पर्वत, बळी, पशु आदि मानवेतर प्रकृति का अनुसरण करना अनुकरणात्मक कला का काम नहीं है। साहित्यकार प्रकृति की गोचर विषय वस्तुओं का अनुकरण करने के बजाय सर्जन प्रक्रिया का अनुकरण करता है। जीवन ज्योत में व्याप्त विषय वस्तुओं द्वारा कवि की कल्पना में जो प्रतिरूप उभरता है, जो बिम्ब प्रस्तुत होता है, कवि उसी को भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करता है। इस तरह अनुकरण वह तंत्र है, जिसके माध्यम से कवि या कलाकार अपनी कल्पनात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है अपनी संवेदना, भावानुभूति, कल्पना, आदर्श, काव्य कला आदि की सहायता से अपूर्ण को पूर्णता प्रदान करता है, इसलिए वे कवि को काव्य जगत का या साहित्यकार को साहित्य जगत का रचयिता मानते हैं।

अनुकरण की वस्तुओं के संदर्भ में अरस्तू की मान्यता है कि कवि या कलाकार तीन तरह की वस्तुओं में से किसी एक का अनुकरण भी कर सकता है - जैसी व भी या हैं, जैसी वे कही या समझी जाती हैं और जैसी उन्हें होनी चाहिए। स्पष्ट है कि वे काव्य का विषय प्रकृति के प्रतीयमान, संभाव्य और आदर्श रूप को मानते हैं। कवि को इस बात की पूरी स्वतंत्रता है कि वह प्रकृति को उसी रूप में चित्रित करे जैसी वह उन्हें अपनी इंद्रियों से महसूस करता है अथवा जैसी वह भविष्य में प्रतीत हो सकती हैं या कवि के अनुसार जैसा उसे होना चाहिए। इस तरह संपूर्ण चित्रण में कवि की भावना और कल्पना का महत्त्वपूर्ण योगदान होना अवश्यम्भावी माना गया है। प्रतीयमान और संभाव्य में यदि वह भावना और कल्पना का आश्रय लेगा तो आदर्श रूप में कवि अपनी इच्छा, रूचि एवं आदर्श के अनुरूप चित्र अवश्य प्रस्तुत करेगा। इस तरह अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत शुद्ध प्रतिकृति पर आधारित नहीं है अपितु भावनामय और कल्पनामय सिद्धांत पर आधारित है।

प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर गिलबर्ट अनुकरण को रचनात्मक कार्य मानते हैं तो स्कॉट जोंस का मानना है कि अनुकरण, साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन और जीवन का

कल्पनात्मक पुनर्निमाण है। इस संदर्भ में चिन्तक बूचर का मानना है कि अरस्तू के 'अनुकरण' शब्द का तात्पर्य सादृश्य-विधान या मूल का पुनःउत्पादन, सांकेतिक उल्लेख नहीं है। काव्य या कला मानव जीवन के सर्व व्यापक तत्त्व की अभिव्यक्ति है, यह एक रचनात्मक प्रक्रिया है। एबर कोम्बे के अनुसार अरस्तू ने कविता में अनुकरण का वही अर्थ ग्रहण किया है जो आजकल हम तंत्र शिल्प का मानते हैं। अरस्तू ने मानवीय आंतरिक भावानुभूतियों और प्रवृत्तियों को ही अनुकृति स्वीकार किया है।

कविता और इतिहास के परस्पर संबंध के विषय में अरस्तू का मानना है कि कवि और इतिहासकार में अंतर है। इतिहासकार केवल उन्हीं घटनाओं का वर्णन करता है जो घटित हो चुका है परन्तु कवि उन घटनाओं का भी संयोजन करता है जो घटित हो सकती है। इतिहासकार की दृष्टि विशिष्ट घटनाओं, व्यक्तियों, सत्ताओं आदि पर केन्द्रित रहती है जबकि कवि विशिष्ट घटनाओं आदि के माध्यम से एक सार्वभौमिक सामान्य प्रभाव की भी सृष्टि करता है। परिणामतः काव्य में दर्शन के अधिक निकट है क्योंकि इतिहास सत्य का तथ्यात्मक रूप प्रस्तुत करता है परंतु काव्य और दर्शन सत्य की सूक्ष्म मीमांसा करते हैं।

त्रासदी का विवेचन करते हुए अरस्तू ने यह स्वीकार किया है कि इसमें (त्रासदी में) कार्यरत मनुष्य का ही वर्णन है। कार्यरत मनुष्य का तात्पर्य है जीवन-जगत व्यापार में या सांसारिक व्यापार में सुख-दुख की अनुभूति करने वाला मनुष्य। अरस्तू का मानना है कि सुख-दुख, संघर्ष, कष्टकारक स्थिति में ही व्यक्ति का स्वरूप, गुण, विशेषताएँ उभर कर सामने आती हैं, मात्र उनके गुण-कथन में नहीं। अतः कवि या कलाकार को कार्यरत मनुष्य का चित्र ही प्रस्तुत करना चाहिए क्योंकि बिना गुण-कथन के त्रासदी का अस्तित्व संभव है, परंतु कार्यरत मनुष्य के बिना कदापि संभव नहीं है।

अरस्तु के अनुसार कार्यरत मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं - पहले - सामान्य जैसे, दुसरे सामान्य से अच्छे, तीसरे - सामान्य से बुरे। इस संदर्भ में अरस्तू ने लिखा है कि काव्य में जिस मनुष्य का चित्रण होता है वह सामान्य मानव से अच्छा या सामान्य से बुरा होना चाहिए। सामान्य से अच्छा या बुरा मनुष्य दर्शाने के लिए कल्पना तत्व आवश्यक है। अतः अनुकरण से उनका अभिप्राय कल्पनात्मक पुनःसर्जन, उन्नत रूपांतरण, अन्विति के नियमों के अनुसार विषय-वस्तु के चयन से है जिसे कवि अपनी कलात्मक सृजनशीलता से सजाता है, उसमे यथानुसार कुछ जोड़ता या घटाता है। प्रकृति का अन्धानुकरण नहीं करता है।

अरस्तू एक ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने आनंद को काव्य-कला का प्रयोजन सिद्ध किया और उसे शैक्षिक-नैतिक-उपदेशात्मक परिधि से बाहर निकाला, उन्होंने माना कि वस्तुओं का प्रत्यक्ष दर्शन दुख देता है परंतु उन्हीं दुखों का अनुकरण द्वारा प्रस्तुत रूप आनंद प्रदान करता है जैसे कि डरावने जानवर (शेर-चीता-साँप आदि) को देखकर मन भयभीत व दुखी हो उठता है जबकि उसका अनुकृत रूप हमें आनंद देता है। अरस्तू का मानना है कि समाज के लिए यदि नैतिक उत्थान, शैक्षिक उन्नयन आवश्यक है तो वहीं आनंद प्राप्ति को भी कम आवश्यक नहीं समझना चाहिए। नैतिक उन्नयन के साथ-साथ आनंद प्राप्ति भी आवश्यक है। यथार्थ जीवन में दुख व भय का संचार करनेवाली अनुभूति की अनुकरणात्मक प्रस्तुति जब हमें आनंद देती है। तो भय व दुख का निराकरण होता है। ऐसा इसलिए होता है कि अनुकरण का यथार्थपरक वस्तुपरक अँकन न होकर भावनात्मक, संवेदनात्मक एवं कल्पनात्मक चित्रण होता है। उनके

अनुसार अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनंद सार्वभौमिक, सार्वकालिक है। उनका यह भी मानना है कि सह्रदय को आनंद तभी प्राप्त होता है जब कवि के ह्रदय में आनंद भाव की अनुभूति हो, कवि के लिए वस्तु का यथार्थ चित्रण करने के साथ-साथ आत्मतत्व का प्रकाशन एवं उनकी अभिव्यंजना भी आवश्यक है।

इस प्रकार अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत संबंधी मान्यताओं की व्याख्या करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनुकरण में वस्तु का यथार्थपरक अंकन जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है उसकी भावनापूर्ण प्रस्तुति। तभी अनुकरण सुंदर, आनंददायक होगा और पाठकों को वास्तविकता के प्रति आश्वस्त करेगा, व्यष्टि से संबंध रखते हुए भी वह समष्टि का सावभौमिक सत्य उद्घाटित करेगा, उसमें आदर्श तत्व भी होगा और आनंद तत्व भी होगा। डॉ. नगेन्द्र ने इस संदर्भ में स्पष्ट कहा है कि - "यह सिद्ध है कि अनुकरण का अर्थ यथार्थ प्रत्यंकन मात्र नहीं है - वह पुनः सृजन का पयार्य भी है और उसमें भाव तथा कल्पना का यथेष्ट अन्तर्भाव है। उसमें सर्जना और सर्जना के आनंद की अस्वीकृति कदापि नहीं है।" डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त का कथन है कि "अनुकरण को नया अर्थ प्रदान कर अरस्तू ने कला का स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित किया, कला का संबंध अमूर्त से नहीं, संवेदना और बिम्ब-विधायिनी शक्ति से माना, सुंदर को शिव से अधिक व्यापक बताया, कला पर प्लेटो द्वारा लगाए गए पावित्र्य-दूषकता के आक्षेप को वृथा बताया और कविता को दार्शनिकों तथा नीतिजों के चंगुल से छुटकारा दिलाया है तथापि अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत भी पूरी तरह से निर्दाष नहीं है।"

१.३.२ अरस्तू का त्रासदी सिद्धांत :

अरस्तू त्रासदी को काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप मानते हैं। 'त्रासदी' का तात्पर्य है - त्रास देने वाला या कष्ट देने वाला। त्रासदी का उद्देश्य पाठकों या दर्शकों या श्रोताओं में त्रास और करूणा की भावनाओं को जागृत करना है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में नाटक के दो भेदों क्रमशः त्रासदी (ट्रेजेडी) और कामदी (कॉमेडी) में अरस्तू ने त्रासदी को सर्वोत्कृष्ट माना और उसकी विस्तृत विवेचना की। अरस्तू त्रासदी के संदर्भ जो परिभाषा लिखते हैं उसका हिन्दी रूपांतरण है - "त्रासदी किसी गंभीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप में प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों (आमंकारों) से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान के रुप में न होकर कार्य-व्यापार के रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।" यहाँ अलंकृत भाषा से तात्पर्य ऐसी भाषा है जिसमें लय, सामंजस्य और गीत का समावेश हो जाता है।

त्रासदी को परिभाषित करते हुए अरस्तू अपने ग्रंथ 'पोयटिक्स' के छठे अध्याय के प्रारम्भ में लिखते हैं - "Tragedy, then is an imitation of an action that is serious, complete and of a certain magnitude, in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play in the form of action, not of narrative, through pity and fear effecting the proper puragation of these emotions." (Butcher, Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts, Page - 23)

इस प्रकार स्पष्ट है कि त्रासदी किसी कार्य की अनुकृति या अनुकरण है। यह किसी व्यक्ति की अनुकृति नहीं है। इस अनुकरण का साधन या माध्यम है कलात्मक अनुकरणों से मुक्त भाषा-शैली। नाटक के कुछ अंश पद्य में और कुछ गीतों के माध्यम से होनी चाहिए। पद्य और संगीत अनुकरण के साधन है। इसकी शैली नाटकीय और संवादात्मक होती है वह वर्णनात्मक नहीं होती है। त्रासदी की शैली अलंकृत होती है।

इस तरह त्रासदी में जीवन के गंभीर पक्षों को उभारकर त्रास करुणा या भय-दशा को जगाने वाली घटनाओं का, जीवन के कार्य-व्यापार का ऐसा प्रस्तुतीकरण होता है, जिसके द्वारा दर्शकों-श्रोताओं या पाठकों के इन भावों का विरेचन हो सके क्योंकि नाटक को जब रंगमंच पर अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तो दर्शकों के मस्तिष्क पर उसका प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक पड़ता है। हालाँकि अरस्तू ने त्रासदी को दृश्य न मानकर पाठ्य माना क्योंकि उन्होंने कवि या लेखक की विवेचना कला की दृष्टि से की है। नाटक की रचना में प्रदर्शन कवि कला से बाहर का तत्व है। लेकिन अरस्तू ने इस तथ्य पर पूरी तरह से बल दिया है कि नाटककार को नाटक के प्रदर्शन संबंधी नियमों की पूरी जानकारी होनी चाहिए। उन्होंने यह भी माना है कि त्रासदी में कार्य अभिजीत होना चाहिए, वर्णित नहीं होनी चाहिए। लेकिन प्राचीन तथा नवीन सभी त्रासदियों में हर एक विषय वस्तु का अभिनय संभव नहीं है। इनका प्रस्तुतीकरण करने के लिए भी ग्रीक नाटकों में कुछ नाट्य वर्णनाएँ हैं जिनका उल्लेख भी मिलता है

"Let not Medea-Say her sons before the audience" (Butcher, Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts, Page - 25)

अरस्तू ने त्रासदी के छहः अंग स्वीकार किए हैं -

१) कथानक या घटना विन्यास (Plot)
२) चरित्र (Ethos)
३) पदावली (Diction)
४) विचारतत्व (Diamoia)
५) संगीत (Melody) तथा
६) दृश्य-विधान (Sepectacle)

१) कथानक या कथावस्तू या घटना विन्यास (Plot) :

अरस्तू के युग में कथावस्तू को विशेष महत्व दिया जाता था, इसलिए अरस्तू भी इससे प्रभावित था। उसने नाटक के अन्य सभी तत्वों की अपेक्षा कथानक या कथावस्तू या घटना-योजना को श्रेष्ठ और अनिवार्य माना था। डॉ. नगेन्द्र, अरस्तू द्वारा कथानक को सर्वोच्च तत्व मानने के पीछे निम्नलिखित कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं -

i. त्रासदी अनुकृति है - व्यक्ति की नहीं, कार्य की तथा जीवन की।
ii. जीवन कार्य-व्यापार का ही नाम है, अतः जीवन की अनुकृति में कार्य व्यापार ही प्रमुख है।
iii. काव्यगत प्रभाव का स्वरूप सुख या दुख होता है और यह कार्य पर निर्भर रहता है, अतः कार्य या घटनाएँ ही त्रासदी का साध्य हैं।
iv. चरित्र कार्य-व्यापार के साथ गौण रूप से स्वतः ही आ जाता है।
v. बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी नहीं हो सकती, बिना चरित्र चित्रण के हो सकती है।

vi. चारित्र्य (चरित्र) व्यंजक भाषण विचार अथवा पदावली उतना कारुणिक प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकते, जितना कथानक।

vii. त्रासदी के सबसे प्रबल रागात्मक आकर्षक तत्व - स्थिति - विपर्यय तथा अभिज्ञान कथानक के अंग हैं।

viii. अतः नवोदित कलाकार भाषा के परिकार तथा चरित्र-चित्रण में तो पहले सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं परन्तु कथानक का सफल निर्माण करने में उन्हें समय लगता है।

अरस्तू को कथानक संबंधी मान्यता से अनेकानेक आलोचन, सहमत नहीं हैं क्योंकि अरस्तू ने चरित्र की अपेक्षा कथानक को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना है। विभिन्न आलोचकों की असहमति इस बात से भी है कि उन्होंने चरित्र-चित्रण के बिना भी त्रासदी की सम्पन्नता को, पूर्णता को समर्थन दिया है। कतिपय विद्वानों ने यह भी स्वीकार किया है कि अरस्तू ने कथानक और चरित्र-चित्रण को परस्पर आश्रित और परस्पर संबद्ध माना है।

कथानक का आधार :

अरस्तू ने विषय को साकार रूप प्रदान करने के लिए तीन प्रकार के कथानकों को आधार बनाया है -

१) दंतकथा मूलक

२) कल्पना मूलक

३) इतिहास मूलक

उन्होंने कल्पनामूलक और इतिहास मूलक आधार की महत्ता को स्वीकार करते हुए दंतकथामूलक को ही त्रासदी का मुख्य आधार माना। इसे सर्वश्रेष्ठ आधार इसलिए माना क्योंकि इसमें सत्य और कल्पना के सुंदर समन्वय की काफी गुंजाइश है।

शिल्प की दृष्टि से कथानक या कथावस्तु के दो भेद है - सरल और जटिल। अरस्तू की मान्यता है कि कार्य अगर सरल होगा तो कथानक भी सरल होगा और कार्य यदि जटिल होगा तो कथानक भी जटिल होगा। सरल कथानक में एक और अविच्छिन्न कार्य व्यापार होता है जिसमें स्थिति विपर्यय और अभिज्ञान के बिना ही भाग्य परिवर्तन हो जाता है, जिसमें कार्य सीधा घटना की ओर बढ़ता है।

जटिल कार्य-व्यापार के कारण जटिल कथानक वाली त्रासदी में भाग्य-परिवर्तन के लिए स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान का सहारा लिया जाता है, जिसमें कथानक सीधे चरम-स्थिति तक नहीं पहुँचता। उसमें अनेक प्रासंगिक कथाओं के माध्यम से अनेक मोड़ आते हैं।

कथानक के आयाम के संदर्भ में अरस्तू का मानना है कि उनका एक निश्चित आयाम अवश्य होना चाहिए। कथानक का नायक संभाव्य और आवश्यक घटनाचक्रों से गुजरता हुआ सौभाग्य से दुर्भाग्य या दुर्भाग्य से सौभाग्य को प्राप्त करे। इसके साथ नाटक इतना लंबा नहीं होना चाहिए कि प्रेक्षकों का धैर्य समाप्त हो जाए और न ही इतना छोटा होना चाहिए कि वह प्रेक्षकों अच्छी तरह रस प्रदान नहीं कर पाए।

अरस्तू ने कथानक या कथावस्तू के लिए निम्नलिखित गुणों का स्वीकार किया है।

१) पूर्णता : पूर्णता कथानक का आवश्यक गुण है जिसके लिए अरस्तू ने चार बातों पर विशेष ध्यान दिया है - की कथानक वह पूर्ण है, जिसमें आदि, मध्य और अंत तीनों विद्मान हो।

क) नाटक में आदि या आरंभ ऐसी स्थिति में होनी चाहिए, जिसका परिणाम तो सुनिश्चित हो परन्तु पूर्व-कारण न बताया गया हो। प्रेक्षकों को पूर्ववर्ती घटनाओं को जानने की जिज्ञासा न हो।

ख) नाटक को मध्य ऐसा हो, जिसके पूर्ववर्ती कारण भी हों और जिससे आगामी परिणाम भी घटित हों। उसका पूर्ववर्ती और परवर्ती सभी घटनाओं से कार्य-कारण संबंध होता है।

ग) नाटक का अंत ऐसा हो, जो मध्य का परिणाम हो परंतु स्वयं किसी अन्य स्थिति का जन्म दे। नाटक के अंत में प्रेक्षकों की जिज्ञासा शांत हो जानी चाहिए।

इस प्रकार अरस्तू ने माना है कि नाटक का आदि, मध्य और अंत तीनों में समन्वय - सामंजस्य होना चाहिए। उनकी प्रस्तुति कलात्मक होनी चाहिए। उनके विविध दृश्यों, घटनाओं, स्थितियों, कार्य-कारणों में श्रृंखलाबद्ध संबद्धता होनी चाहिए। नाटक के सभी अवयवों में अन्विति होनी चाहिए। उसमें संयोग और अनर्गल बातों का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। त्रासदी का कथानक अपने आप में समग्र और पूर्ण होना चाहिए।

२) एकान्विति : एकान्विति का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उसमें एक ही व्यक्ति की कथा हो। एक व्यक्ति की कथा में एकान्विति का अभाव संभव है। एकान्विति का संबंध कार्य की ऐक्यता से है। अरस्तू के अनुसार कार्यवस्तू की संघटना ऐसी होनी चाहिए कि यदि उसके एक अंग को भी अपने स्थान से हिलाया जाए, इधर-उधर किया जाए तो उसका सर्वांग छिन्न-भिन्न या अस्त-व्यस्त हो जाए। उसमें पूर्णरूपेण एक ही कार्य होना चाहिए वह भी पूरी तरह से वर्तमान काल में। त्रासदी की प्रत्येक घटना उससे जुड़ी हुई या संबद्ध होनी चाहिए। इन घटनाओं का आपस में अनुस्यूत होना (गुंधा होना) आवश्यक है।

३) संभाव्यता और आवश्यकता : इस संदर्भ में अरस्तू का मानना है कि कवि-कर्म इतना ही नहीं है कि जो कुछ घटित हो चुका है, वह सिर्फ उसी का चित्रण करे, बल्कि वह उस घटना का वर्णन भी करे जो घटित हो सकता है, वह भी कवि कर्म होना चाहिए। त्रासदी में संयोग और असंभव घटनाओं का निषेध होना चाहिए। कथानक में ऐसे प्रसंगों - संदर्भों - घटनाओं का सन्निवेश होना चाहिए जो संभाव्यता और आवश्यकता के नियमों के अन्तर्गत सम्पन्न किया गया हो।

४) सहज विकास : नाटक में कथावस्तु या कथानक के सभी अंगों का सहज विकास होना चाहिए। सभी घटनाएँ आपस में परस्पर संबद्ध होनी चाहिए, एक दूसरे का परिणाम होनी चाहिए। इनमें रहस्योद्घाटन, भावुकता, कौतूहल एवं नाटकीयता का विकास सहज रूप में होना चाहिए।

५) कौतूहल : अरस्तू का मानना है कि प्रेक्षकों के कौतूहल को शांत-संतुष्ट करने की क्षमता कथावस्तू में होनी चाहिए। घटनाएँ अचानक - आकस्मिक उपस्थित होनी चाहिए, जिससे

प्रेक्षकों की जिज्ञासा बनी रहे, उनका कौतूहल बना रहे। घटनाओं की यांत्रिकता का बहिष्कार करना चाहिए।

६) साधारणीकरण : अरस्तू का स्पष्ट मत है कि नाटक में त्रासदी की प्रस्तुति ऐसी होनी चाहिए जो सार्वभौमिक, सार्वभेदिक, सार्वकालिक और सर्वसाधारण के लिए सर्वग्राही हो, किसी भी देश-काल-समाज के प्रेक्षक उससे अपना तादात्म्य स्थापित कर सकें।

इसके अतिरिक्त अरस्तू ने त्रासदी के आदर्श कथानक के लिए हैमरतिया अर्थात् महान त्रुटि, पेरेपेतेइया अर्थात् स्थिति-विपर्यय और अनग्नोरिसिस अर्थात् अभिजान के बीच के सामंजस्य को आवश्यक माना है। हैमार्तिया या हेमरतिया का अर्थ है कि त्रासदी के नायक को सर्वगुण संपन्न नहीं होना चाहिए। त्रासद प्रभाव के लिए उसका अपूर्ण, त्रुटिपूर्ण या दोषपूर्ण होना आवश्यक है। इसे ही इन्होंने महान त्रुटि या हेमरतिया के अंतर्गत व्याख्यायित किया है।

पेरीपेतिया अर्थात् स्थिति-विपर्यय के अंतर्गत अरस्तू ने यह माना है कि स्थिति-विपर्यय वह स्थिति है जहाँ नायक की इच्छा और आशा-आकांक्षा के प्रतिकू कुछ घटित होता है। भाग्य के आकस्मिक आघात से उत्पन्न दुर्भाग्य त्रासदी को जन्म नहीं देता।

अनग्नोरिसिस अर्थात् अभिज्ञान का तात्पर्य है अज्ञानता का ज्ञान में परिणित होना। अरस्तू ने माना है कि इस स्थिति में सत्य का उद्‌घाटन और वस्तुस्थिति का ज्ञान होता है।

इन तीनों को अरस्तू ने कथानक में आदर्श त्रासदी के लिए अनिवार्य माना है।

अब तक हमने अरस्तू के त्रासदी-सिद्‌धांत के छहः अंगों में से प्रथम अंग 'कथानक' की व्याख्या की। अन्य पाँच अंगों क्रमशः चरित्र, पदावली, विचार तत्व, संगीत तथा दृश्य-विधान का भी विहंगावलोकन आवश्यक है।

२) चरित्र (Ethos) :

अरस्तू ने इस संदर्भ में अपने ग्रंथ 'Poetics' (पोयटिक्स) में लिखा है कि नाटककार को चरित्र-चित्रण करते समय मुख्यतः चार बातों का ध्यान रखना चाहिए।

क) पात्र का चरित्र अच्छा, यशस्वी, वैभवशाली, कुलीन, सदृढ़ व्यक्तित्व का धनी, भद्र और नैतिक-बौद्‌धिक गुणों से संपन्न होना चाहिए, ताकि उसका प्रभाव व्यापक हो।
ख) औचित्य का ध्यान रखा जाए। यहाँ 'औचित्य' का तात्पर्य हैं पात्र उस वर्ग के तनिक भी प्रतिकूल न हो जिसका वह सदस्य है।
ग) नाटक का पात्र चरित्र के अनुरूप हो। नाटक के पात्र सामान्य व्यक्ति की तरह ही स्वाभाविक होना चाहिए।
घ) अरस्तू के अनुसार चरित्र में सुसंगति होनी चाहिए।

इस प्रकार अरस्तू का मानना है कि नाटककार चरित्र-चित्रण करते समय इन बातों पर गौर फरमाने के साथ यह भी ध्यान में रखें कि उनकी दृष्टि पात्र के प्रति स्थिर, निर्भ्रांत हो और चरित्र-चित्रण का अंकन संभाव्यता व आवश्यकता के नियमों को ध्यान में रखते बुद्‌धि-विवेक-संगत हो। वे चरित्र-चित्रण में यथार्थ और आदर्श के फलात्मक समन्वय पर बल देते हैं।

३) पदावली (Diction) :

अरस्तू के अनुसार शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति पदावली है जिसमें सबसे महत्वपूर्ण है भाषाशैली। इस संदर्भ में अरस्तू ने दो नियमों का पालन आवश्यक माना है। भाषाशैली का प्रसाद गुण संपन्न होना और क्षुद्र न होना।

अरस्तू ने कथानक में त्रासदी के लिए ऐसी भाषा को स्वीकार्य माना है जो समृद्ध, उदात्त, अलंकृत, गरिमामय, औचित्यपूर्ण, संगतिपूर्ण, प्रसंगानुरूप, पात्रानुकूल और भव्य हो। इसके लिए कवि का प्रतिभावान होना आवश्यक है।

४) विचारतत्व (Diamoia) :

त्रासदी में विचार तत्व कि भी अह्म भूमिका है जिसमें बुद्धि तत्व और भावतत्व दोनों का समावेश किया जाता है।

नाटक के पात्र जब अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हैं तो वास्तव में वे विचार उनके अपने नहीं होते अपितु कवि या कलाकार के होते हैं। पात्र स्वयं भी कवि की सृष्टि, उनकी रचना होते हैं। कवि अपने विचारों को अपने पात्रों के माध्यम से उद्घाटित करता है जिन्हें वह पात्रों के वार्तालाप, तर्कवितर्क, संभाषण, गीत के माध्यम से दर्शाता है, प्रस्तुत करता है। इसलिए अरस्तू के अनुसार कवि के विचारों में गंभीरता, उदारता, महानता, उदात्तता, व्यापकता, सर्वग्राहयता, भव्य भाषा-शैली का संपूर्ण ज्ञान, वस्तु-विषय का समग्र ज्ञान, पारखी दृष्टि, विवेक सम्मत, तर्क-संगत, वैज्ञानिक सोच आवश्यक है।

५) संगीत (Melody) :

अरस्तू ने गीत-संगीत को त्रासदी का अनिवार्य अंग स्वीकार किया है। गीत-संगीत के माध्यम से त्रासदी का विषय और परिवेश और अधिक भव्य, प्रभावशाली और गंभीर हो जाता है। अतः यह नाटक का अविछिन्न अंग है।

६) दृश्य-विधान (Sepectacle) :

दृश्य विधान का तात्पर्य रंगमंच की साज-सज्जा, पात्रों की वेशभूषा, रंगमंच के कुशल साधनों और प्रयोगों से है जिसे अरस्तू ने सबसे कम कलात्मक अंग माना है। उनका मानना है कि इसके बिना भी त्रासदी के प्रबल प्रभाव की अनुभूति होती है। उन्होंने यह अवश्य स्वीकारा है कि काव्य की आत्मा तक पहुँचने में दृश्य विधान की अपनी भूमिका होती है।

इस प्रकार निष्कषर्तः कहा जा सकता है कि त्रासदी के ये सभी छहः अंग क्रमशः कथानक, चरित्र, पदावली, विचारस्तत्व, गीत-संगीत तथा दृश्य-विधान मिलकर अरस्तू के त्रासदी सिद्धान्त को पुष्टि प्रदान करते है, परवर्ती विद्वानों को एक नई दिशा देते हुए अपने समय में यूनान के सबसे समर्थ, प्रतिष्ठित और जगत प्रसिद्ध दार्शनिक, विचारक, आलोचक बनते हैं। अरस्तू अपने आप में एक संस्था हैं जिन्हें हर विधा, हर विषय, हर क्षेत्र में पढ़ा-समझा जाता है, चिंतन मनन किया जाता है।

munotes.in

१.४ सारांश

सारांश के अंतर्गत अरस्तू के दोनों सिद्धांतों क्रमशः अनुकरण, त्रासदी का सार निहित है। जिन्हें निम्न विंदुओं में देखा जा सकता है।

क) अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत का सारांश :

१) अनुकरण का तात्पर्य प्रतिकृति (नकल - Copy) नहीं है अपितु यह पुनःसृजन या पुनर्निमाण (Reproduction) है।

२) अनुकरण मानव की मूल प्रवृत्ति है और काव्य या साहित्य जीवन की अनुकृति है।

३) कोई भी बच्चा अपने बड़ों की क्रियाएँ देखकर उनका अनुकरण करके सीखता है अतः अनुकरण से हमें शिक्षा मिलती है।

४) अनुकरण किसी वस्तु का हूबहू नकल नहीं है अपितु यह एक सर्जनात्मक क्रिया है।

५) अनुकरण की प्रक्रिया, प्रकृति के अनेक दोषों का निराकरण करके उसे पूर्णता प्रदान करती है।

६) काव्य के संबंध में प्लेटो का आरोप था कि कवि अज्ञानवश वास्तविक सत्य का वर्णन नहीं करता। अरस्तू का मत है कि कवि द्वारा वर्णित काव्यसत्य, ऐतिहासिक तथ्यात्मक सत्य और वैज्ञानिक वस्तुगत सत्य से भिन्न होता है। वह भावगत सत्य है और उसकी अलग गरिमा और महत्ता होती है।

७) कवि के लिए जो घटित हुआ वही प्रत्यक्ष नहीं है अपितु उसके लिए जो घटित हो सकता है, संभाव्य है वह भी सत्य है।

८) अनुकरण के संबंध में अरस्तू का दृष्टिकोण नैतिक और सामाजिक की अपेक्षा सौन्दर्यशास्त्रीय है।

९) अनुकरण की प्रक्रिया आनंददायक है। हम अनुकृत वस्तु में मूल का सादृश्य देखकर आनंद प्राप्त करते हैं।

१०) अनुकरण के माध्यम से भयमूलक, दुखदायक या त्रासमूलक वस्तु को भी इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है जिससे आनंद की प्राप्ति होती है।

११) काव्यकला सर्वोच्च अनुकरणात्मक कला है, अन्य सभी ललित कलाओं एवं उपयोगी कलाओं से अधिक महत्वपूर्ण है। नाटक काव्य कला का उत्कृष्ट रूप है।

१२) अरस्तू ने काव्य कला को प्लेटो की तरह राजनीति, नीति, दर्शन आदि की दृष्टि से नहीं देखा, अपितु उसे सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से देखा और काव्य को एक स्वतंत्र रूप प्रदान किया।

ख) अरस्तू के त्रासदी सिद्धांत का सारांश :

अरस्तू के त्रासदी सिद्धांत का सारांश निम्न विंदुओं में द्रष्टव्य है -

१) अरस्तू त्रासदी को काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप मानते हैं, जिसके माध्यम से असीम आनंद की प्राप्ति होती है।

munotes.in

२) त्रासदी किसी गंभीर, स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप में प्रयुक्त सभी प्रकार के आवरणों से अलंकृत भाषा होती हो, जो समाख्यान के रूप में न होकर कार्य व्यापार के रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।

३) त्रासदी का उद्देश्य जीवन के गंभीर पक्षों को उभारकर प्रेक्षकों में भय-दया आदि की भावना जगाने वाली घटनाओं का प्रस्तुतीकरण करना होता है।

४) इसमें किसी व्यक्ति की अनुकृति नहीं होती है बल्कि किसी कार्य व्यापार की अनुकृति होती है।

५) त्रासदी की शैली वर्णनात्मक नहीं होती, बल्कि संवादात्मक, नाटकीय, पद्यात्मक - गीतात्मक होती है।

६) अरस्तू ने त्रासदी के लिए इसके छहः अंगों को आवश्यक माना है - कथानक या कथावस्तु, चरित्र, पदावली, विचारतत्व, गीत-संगीत तथा दृश्य विधान।

७) अरस्तू त्रासदी के लिए कथानक को श्रेष्ठ और अनिवार्य तत्व मानते हैं लेकिन ऐसा नहीं है कि उन्होंने चरित्र को प्रधानता नहीं दी है। वे कथानक और चरित्र को परस्पर आश्रित और संबद्ध भी स्वीकार करते हैं।

८) अरस्तू ने काल्पनिक और ऐतिहासिक आधार की महत्ता को स्वीकारते हुए भी त्रासदी के लिए दंतकथा मूलक आधार को अधिक प्रधानता दी है क्योंकि उसमें सत्य और कल्पना के सुंदर समन्वय की अधिक गुंजाइश रहती है।

९) अरस्तू ने त्रासदी की कथावस्तू के लिए जिन गुणों को आवश्यक माना है वे हैं - पूर्णता, एकान्विति, संभाव्यता, सहज विकास, कौतूहल और साधारणीकरण।

१०) अरस्तू ने त्रासदी के आदर्श कथानक के लिए महान त्रुटि, स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान के बीच के तारतम्य, सामंजस्य को अनिवार्य माना है।

११) अरस्तू ने त्रासदी के पात्रों को ध्यान में रखते हुए लिखा है इसके लिए पात्रों का भद्र, नैतिक गुणों से संपन्न, सुदृढ़ व्यक्तित्व का धनी होना आवश्यक है। पात्र चरित्र के अनुरुप होने चाहिए औचित्य को ध्यान में रखा जान चाहिए।

१२) त्रासदी की सृष्टि के लिए प्रसादगुण संपन्न भव्य भाषा शैली अनिवार्य है। भाषा-शैली क्षुद्र नहीं होनी चाहिए। अरस्तू त्रासदी के लिए समृद्ध, उदात्त, अलंकृत, गरिमामय, औचित्यपूर्ण, ???? प्रसंगानुरूप, पात्रानुकूल भव्य भाषा-शैली को अनिवार्य मानते हैं।

१३) अरस्तू ने त्रासदी को और अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए गीत-संगीत को भी अनिवार्य माना है।

१४) त्रासदी को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए प्रतिभावान कवि के विचारों का महान, उदार, गंभीर उदात्त, व्यापक, विषय-वस्तु-भाषा-शैली का संपूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि कवि ही अपने द्वारा सृजित पात्रों के माध्यम से अपने विचारों को उद्घाटित करता है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव प्रेक्षकों या पाठकों पर पड़ता है।

१५) अरस्तू का त्रासदी सिद्धांत इसमें व्याहा त्रुटियों के बावजूद इन्हें यूनान का ही नहीं वरन् पाश्चात्य काव्यशास्त्र का सबसे समर्थ, प्रतिष्ठित और जगत प्रसिद्ध दार्शनिक, विचारक, आलोचक बनाता है।

९.५ बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न १ अरस्तू का संबंध किस कालखंड से है ?
क) ३७४ ई. पू. - ३२२ ई. पू. ख) ४२७ ई. पू. - ३४७ ई. पू.
ग) १०६ ई.पू. - ४३ ई. पू. घ) ३५४ ई. पू. - ४३० ई. पू.
उत्तर ३७४ ई. पू. - ३२२ ई. पू.

प्रश्न २ अरस्तू किसके शिष्य थे ?
क) सिकंदर ख) प्लेटो ग) आईसोक्रेटीज घ) होरेस
उत्तर प्लेटो

प्रश्न ३ अरस्तू की काव्य दृष्टि किस पर आधारित है ?
क) दर्शन ख) राजनीति ग) सौन्दर्य घ) चिकित्सा
उत्तर सौन्दर्य

प्रश्न ४ प्लेटो की विद्यापीठ का मस्तिष्क किसे कहा गया था ?
क) होरेस ख) लोंजाइनस ग) आइसोक्रेटिज घ) अरस्तू
उत्तर अरस्तू

प्रश्न ५ अरस्तू को किसका गुरु होने का सौभाग्य प्राप्त है ?
क) ग्रीक विद्वान प्लेटो ख) सिकन्दर महान
ग) नेपोलियन घ) लोंजाइनस
उत्तर सिकन्दर महान

प्रश्न ६ अरस्तू ने त्रासदी के लिए किसे सर्वोत्कृष्ट माना है ?
क) विचारतत्व ख) कथानक ग) चरित्र-चित्रण घ) पद -रचना
उत्तर कथानक

प्रश्न ७ अरस्तू ने अपने त्रासदी सिद्धांत से किसकी तुलना की है ?
क) खंड काव्य ख) महाकाव्य ग) गीतिकाव्य घ) मुक्तक काव्य
उत्तर महाकाव्य से तुलना की है।

९.६ लघूत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १ अरस्तू कौन था ?
उत्तर अरस्तू यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो का प्रतिभा-सम्पन्न शिष्य, मैकेडोनियन धारा का परम विद्वान, सूक्ष्मद्रष्टा अध्यापक तथा काव्य-शास्त्री था। वह एक महान विचारक, दार्शनिक और चिंतक था।

munotes.in

प्रश्न २ अरस्तू द्वारा रचित ग्रंथों का नाम लिखिए।

उत्तर १) Pooetics पोयटिक्स (काव्य शास्त्र)

२) Rhetarios रिटैरियस (भाषण शास्त्र)

प्रश्न ३ अरस्तू के अनुसार त्रासदी के कितने अंग है?

उत्तर अरस्तू के अनुसार त्रासदी के छहः अंग हैं - कथानक, चरित्र, पदावली, विचारतत्व, संगीत व दृश्य विधान।

प्रश्न ४ त्रासदी से आप क्या समझते हैं?

उत्तर त्रासदी कार्य की, जीवन की अनुकृति है। वास्तव में त्रासदी में जीवन के कार्य-व्यापार का अनुकरण होता है। अरस्तू ने केवल गंभीर कार्य की अनुकृति को ही त्रासदी में समाहित किया है।

प्रश्न ५ अरस्तू की दृष्टि में अनुकरण क्या हैं?

उत्तर अरस्तू की दृष्टि में अनुकरण का अर्थ है प्रकृति का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण या पुनःसृजन। यह एक सृजनात्मक - रचनात्मक प्रक्रिया है।

प्रश्न ६ अरस्तू के अनुसार कलाकार किसका अनुकरण करता है?

उत्तर अरस्तू के अनुसार कलाकार तीन प्रकार की वस्तुओं में से किसी एक का अनुकरण कर सकता है - जैसी वे थीं या हैं, जैसी वे कही या समझी जाती हैं और जैसी वे होनी चाहिए।

१.७ संभावित दीर्घोत्तरी प्रश्न

१. अरस्तू द्वारा प्रतिपादित अनुकरण सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।
२. अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत की विस्तृत विवेचना कीजिए।
३. अरस्तू के त्रासदी सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।
४. त्रासदी के संदर्भ में अरस्तू ने जो विचार व्यक्त किए हैं, उनकी विवेचना कीजिए।
५. अरस्तू के अनुसार त्रासदी के लिए आवश्यक सभी अवयवों की समीक्षा कीजिए।
६. अरस्तू के काव्य संबंधी अवधारणा का परिचय दीजिए।

१.८ अध्ययन हेतू सहायक पुस्तकें

इस इकाई के अंतर्गत प्लेटो अरस्तू और लोंजाइनस के काव्य संबंधी विचारों का गहनतम अध्ययन करने के लिए कुछ सहायक पुस्तकों के नाम दिए गए हैं।

१. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र - डॉ. निर्मला जैन
२. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र - देवेन्द्र नाथ शर्मा
३. पाश्चात्य काव्य के सिद्धांत - डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त
४. पाश्चात्य काव्य चिंतन - डॉ. करुणा शंकर उपाध्याय
५. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के प्रतिमान - डॉ. हरीश अरोड़ा

❖❖❖❖

munotes.in

इकाई-९.१

अरस्तू का विरेचन सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा :

९.१.१ इकाई का उद्देश्य
९.१.२ प्रस्तावना
९.१.३ अरस्तू के विरेचन सिद्धांत
९.१.४ सारांश
९.१.५ बहु विकल्पीय प्रश्न
९.१.६ लघूत्तरीय प्रश्न
९.१.७ संभावित दीर्घोत्तरी प्रश्न
९.१.८ अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

९.१.१ इकाई का उद्देश्य

इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य पाश्चात्य काव्य शास्त्र में सर्व प्रमुख विरेचन सिद्धांत का अध्ययन करना है उसे विस्तार से जानना, विरेचन शब्द का अर्थ उसके स्वरूप और काव्यशास्त्र के अनुसार मनोविकारों को विरेचन की अवधारणा से कैसे दूर किया जा सकता है यह जानना है।

९.१.२ प्रस्तावना

'विरेचन के सिद्धांत' में अरस्तू ने प्रतिपादित किया है कि त्रासदी के पठन और प्रेक्षण के उपरांत मन में जिस करुण एवं भय का संचार होता है उसके परिणाम स्वरूप मनुष्य की सहन शक्ति बढ़ती है, व्यावहारिक जीवन में करुणा और भय के प्रचंड आवेगों को सहने की शक्ति आती है। अरस्तू ने दुखान्त नाटकों की मीमांसा करते हुए विरेचन के सिद्धांत की कल्पना की है जिसका उद्देश्य पाठकों-दर्शकों के मन-मस्तिष्क में विद्यमान वाह्य विकारों की उत्तेजना, मनोविकारों की उत्तेजना और उनके शमन द्वारा आत्मा की शुद्धि और मन की शान्ति से हैं।

१.१.३ अरस्तू का विरेचन सिद्धांत :

'विरेचन' शब्द वस्तुतः (कैथारसिस) का हिन्दी रूपांतरण है। इसका तात्पर्य है रेचन, परिशुद्धि या निष्कासन। यह शब्द यूनानी चिकित्साशास्त्र से संबंधित है, जिसमें रेचक औषधियों द्वारा शारीरिक विकारों को शरीर से बाहर निकाला जाता है। शरीर को परिशुद्ध करने की इसी प्रक्रिया को विरेचन कहा जाता है। साहित्यिक क्षेत्र में विरेचन सिद्धांत को पल्लवित, पुष्पित और विकसित करने का श्रेय यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक, प्लेटो के प्रतिभा संपन्न शिष्य, सिकंदर के गुरु और सूक्ष्म द्रष्टा काव्यशास्त्री अरस्तू को है।

अरस्तू ने विरेचन सिद्धांत को प्रतिपादित करते हुए प्लेटो द्वारा काव्य पर लगाए इस आक्षेप को खंडन किया कि आवेश युक्त कवि, पाठकों या दर्शकों की वासनाओं को जागृत और उत्तेजित करता है तथा वह कई बार अनुचित और असामाजिक कार्यो का वर्णन कर लोगों की मनोवृत्तियों को उत्तेजित करता है। अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटों के इस आरोप का खंडन करते हुए कहा कि जिस प्रकार रेचक औषधियों के माध्यम से शारीरिक विकारों को शरीर से बाहर निकाला जाता है और बाद में पेट - शरीर शुद्ध स्वस्थ हो जाता है, ठीक उसी प्रकार भय-त्रास, करुणा, क्रोध, घृणा, द्वेष आदि मनोविकास और मनोभाव जब काव्य में या नाटक में अतिरंजित रूप में आते हैं तब किसी चरित्र द्वारा उन भावों की डटकर अभिव्यक्ति होती है जो दर्शक-पाठकों या श्रोताओं के भीतर के भावों का भी विरेचन कर देती है। इसके प्रबल भावों में दर्शक इस प्रकार डूब जाते हैं, बह जाते हैं कि उनके अन्य भाव शांत हो जाते हैं। अतः कवि या नाटककार के अतिरंजित भावोद्दीपन से दर्शकों या पाठकों के मानसिक विकार दूर हो जाते हैं और वह विकार रहित शुद्ध होकर प्रभाव ग्रहण करता है। इस प्रकार प्लेटो के अनेक सिद्धांतों की अरस्तू ने अधिक व्यापक, संगतिपूर्ण व्याख्या की विशेषतः प्लेटो के कवि और काव्य संबंधी विचारों को उसने परिमार्जित किया।

अरस्तू ने अपने किसी ग्रंथ में न तो विरेचन सिद्धांत की परिभाषित किया और न ही व्याख्यायित किया। उन्होंने अपने ग्रंथ 'पोइटिक्स' में त्रासदी के संदर्भ में लिखते हुए 'विरेचन' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार गंभीर कार्यो, सफल एवं प्रभावशाली अनुकृति, वर्णन के रूप में न होकर कार्यों के रूप में होती है, जिसमें करुणा-भय उत्पन्न करने वाली घटनाएँ होती हैं जो इन भावों के विरेचन द्वारा राहत और आनंद प्रदान करती हैं। विरेचन का उद्देश्य कुछ हद तक इसी आनंद को प्राप्त करता है।

जिस प्रकार भय-त्रास एवं करुणा के दो भाव हमारे ऊपर हावी रहते हैं और त्रासदी के कार्यो को देखकर, पात्रों के कुशल अभिनय द्वारा संतुलित एवं समाहित हो जाते हैं उसी प्रकार इनसे हमारे मन में आनंदानुभूति होती है। अरस्तू ने प्लेटो की काव्य संबंधी मान्यताओं - अवधारणाओं के विपरीत यह स्पष्ट किया कि कविता और त्रासदी हमारी भय व करुणा की भावनाओं को दूषित वासनाओं - मनोविकारों को उत्तेजित करके उन्हें उभारती नहीं है, वरन् अंर्तमन की ऐसी भावनाओं, मनोविकारों को दूर करती है। अन्यथा वे समाज में अनेक समस्याएँ, विकृतियाँ खड़ी कर देती हैं। ऐसे भावों का रेचन कर हम राहत महसूस करते हैं और वे उदात्त रूप में हमें आनंद प्रदान करती है।

अरस्तू ने स्वीकार किया है कि संगीत विरेचन की क्रिया में अत्यन्त सहायक है, सबको तुरंत प्रभावित करता है तथा दूषित मनोभाव - मनोविकारों को उद्वेलित कर उन्हें बाहर निकालता है जिससे व्यक्ति राहत और आनंद का अनुभव करता है। अरस्तू की मान्यता थी कि संगीत का अध्ययन एक नहीं वरन् अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाना चाहिए। उदाहरण स्वरूप - संगीत का अध्ययन शिक्षा के लिए, मानसिक तनाव दूर करने तथा आनंद प्राप्त करने के लिए, विरेचन के लिए करना चाहिए।

अरस्तू के पश्चात व्याख्याकारों - आलोचकों ने विरेचन के तीन अर्थ स्पष्ट किए हैं :

१) धर्म परक

२) कला परक

३) नीति परक

१) धर्म परक : भारत देश के प्राचीनतम नाटकों की तरह ही यूनानी नाटक आरंभ से ही धार्मिक तत्वों से जुड़ा रहता था। प्रो. गिल्बर्ट ने धार्मिक आधारपर इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि यूनान में वर्ष के आरंभ में यूनानी देवता 'दिओन्युसस' को प्रसन्न करने के लिए एक उत्सव मनाया जाता था जिसमें उनसे प्रार्थना की जाती थी कि वे उन्हें विगत वर्ष के पापों, कुकर्मो से मुक्त करें, उनकी आत्मा का विरेचन करें, शुद्ध करें और अगले वर्ष उन्हें इतना विवेकपूर्ण व शुद्ध ह्रदय का बना दें कि वे कुकर्म, पाप, कलुष और मृत्यु आदि से बचे रहें। इस प्रकार से यह उत्सव आत्मशुद्धि का प्रतीक था। इसका जिक्र अनेक नाटकों में द्रष्टव्य था। अरस्तू ने इसके विषय में अपने ग्रंथ 'दी पॉलिटिक्ट' (राजनीति-शास्त्र) में किया था। विरेचन का धर्म परक अर्थ स्वीकार करने वाले विद्वानों का मानना है कि अरस्तू ने विरेचन का लाक्षणिक प्रयोग धार्मिक आधार पर किया। उसका अभिप्राय था - वाह्य उत्तेजना के शमन दवारा आत्मिक शुद्धि और शांति। इसके लिए यूनान में प्रचलित उद्दाम संगीत का उपयोग किया जाता था। इस तरह की व्याख्या से अरस्तू के काव्यशास्त्रीय विवेचना और विरेचन सिद्धांत को एक नया रूप मिला।

२) कला परक : अरस्तू ने धार्मिक उत्सव के विरेचन और चिकित्साशास्त्र की रेचन क्रिया से प्रेरणा लेते हुए विरेचन की कलापरक व्याख्या की। विरेचन के दो पक्ष होते हैं - अभावात्मक और भावात्मक। मनोवेगों की उत्तेजना के बाद उनके शमन से उत्पन्न मन:शांति उसका अभावात्मक पक्ष है जबकि मनोवेगों की उत्तेजना के पश्चात उत्पन्न कलात्मक परितोष उसका भावात्मक पक्ष है। इस संदर्भ में प्रो. बूचनू का मानना है - "त्रासदी का कर्तव्य कर्म केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है, बल्कि इनसे एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्राप्त करना है। इसको कला के माध्यम से ढाल कर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना है।" विरेचन सिद्धांत में कला सिद्धांत की अभिव्यंजना है।

सामान्य तौर पर एक आम आदमी अपने कष्टों - दुखों को अपना समझकर कष्ट का काफी अनुभव करता है, परन्तु कवि या नाटककार किसी व्यक्ति के दुख को सार्वजनिक बना देते हैं, जिससे दुखात्मक भाव दुखद न होकर सुखद व आनंदपूर्ण हो जाता है क्योंकि उत्तेजित होने पर दुखात्मक भावों का विरेचन हो जाता है। इस प्रकार प्रो. बूचर का मानना है कि विरेचन का कलापरक अर्थ है - पहले मानसिक संतुलन - सामंजस्य और बाद में कलात्मक परिष्कार।

३) नीति परक : विरेचन सिद्धांत के नीतिपरक अर्थ की व्याख्या करते हुए जर्मन विद्वान बारनेज ने कहा है कि मानव मन में तमाम मनोविकार वासना के रूप में विद्यमान रहते हैं। इनमें भय त्रास-करुणा नामक मनोवेगों को रंगमंच पर इस तरह से प्रस्तुत किया जाता है, उनमें ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित की जाती हैं कि जो त्रास और करुणा से भरी होती है। प्रेक्षक उन दृश्यों को देखते हुए उन परिस्थितियों के बीच से मानसिक रूप से गुजरता है। ऐसे में उसके मन में त्रास-व-करुणा का भाव उद्वेलित होता है और उपशमित हो जाता है। प्रेक्षक त्रासदी देखकर मानसिक शांति का सुखद अनुभव करता है क्योंकि उसके मन में वासना रूप में स्थित करुणा-त्रास आदि मनोवेगों का दंश समाप्त हो जाता है। भय एवं करुणा को छोड़कर अन्य भावों में गंभीर व्यापक प्रभाव डालने, अंतःकरण के मंथन व उसे द्रवित करने की क्षमता नहीं होती है। विरेचन की विशिष्टाओं को निम्न विंदुओं में देखा जा सकता है -

१) विरेचन का द्रवण, त्रासदी द्वारा ही संभव है।
२) इसके लिए भय व करुणा के भावों का सम्यक् नियोजन व प्रदर्शन आवश्यक है।
३) घटनाओं तथा नायक के चयन में बहुत सावधानी अपेक्षित है।
४) विरेचन, दुखात्मक परिस्थितियों एवं घटनाओं के प्रदर्शन से होता है परन्तु उसकी परिणति सुखात्मक होती है।
५) विरेचन से कलात्मक आनंदानुभूति और आत्मशुद्धि होती है जिससे नैतिक बल एवं धार्मिक संतुष्टि प्राप्त होती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'विरेचन सिद्धांत' अपनी समस्त शक्ति और सीमाओं के साथ पश्चात्य काव्य-शास्त्र को अरस्तू की महत्वपूर्ण देन है।

९.१.४ अरस्तू के विरेचन सिद्धांत का सारांश

अरस्तू के विरेचन सिद्धांत के सारांश को निम्नलिखित विंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है।

१) 'विरेचन' शब्द 'Katharsis' का हिन्दी अनुवाद है जिसका तात्पर्य है रेचन, परिशुद्धि या निष्कासन करना। यह शब्द यूनानी चिकित्सा पद्यति से संबंधित है।

२) जिस प्रकार 'रेचक' औषधियों से शारीरिक विकारों को शरीर से बाहर निकाला जाता है जिसके पश्चात शरीर शुद्ध होता है, यह प्रक्रिया विरेचन कहलाती है, ठीक उसी प्रकार त्रासदी में भय-त्रास या करुणा के अतिरंजित भावोद्दीपन से दर्शकों का मानसिक विकास दूर होता है।

३) साहित्यिक क्षेत्र में 'विरेचन' शब्द को पल्लवित, पुष्पित और विकसित करने का श्रेय अरस्तू को है।

४) विरेचन के द्वारा अरस्तू ने प्लेटो के काव्य संबंधी आरोप - आक्षेपों को खंडित किया, पारिमार्जित किया और प्लेटो के अनेक सिद्धांतों की अधिक व्यापक, संगतिपूर्ण व्याख्या की।

५) अरस्तू ने विरेचन सिद्धांत के द्वारा दुखान्त नाटकों की मीमांसा की। यूनान में सुखान्त नाटकों की अपेक्षा दुखांत नाटकों की रचना अधिक हुई है क्योंकि दुखान्त नाटकों में उदात्तता, गंभीरता, उदारता अधिक होती है। ऐसा पाश्चात्य समीक्षक मानते हैं। इन नाटकों में करुणा - भय आदि मनोविकारों को प्रदर्शित किया जाता था। अरस्तू का मानना है कि हमारे मन में एकत्र करुणा व भय हानिकारक होते हैं। दुखान्त नाटकों में कृत्रिम रूप से हमारी करुणा और भय की भावनाओं को निकलने का अवसर मिल जाता है। इस प्रकार विरेचन उनके मन को परिष्कृत करता है।

६) विरेचन की क्रिया में संगीत की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसलिए इसका अध्ययन शिक्षा के लिए, मानसिक तनाव दूर करने के लिए, आनंद प्राप्ति के लिए तथा विरेचन के लिए करना चाहिए।

७) अरस्तू के पश्चात अनेक विद्वानों - दार्शनिकों ने विरेचन के धर्मपरक, कलापरक और नीति परक अर्थ स्पष्ट किए हैं। धर्मपरक अर्थ के अनुसार विरेचन का तात्पर्य - बाह्य विकारों की उत्तेजना और उनके शमन द्वारा आत्मा की शुद्धि और शांति से है। कलापरक अर्थ में विरेचन के दो पक्ष है अभावात्मक और भावात्मक। मनोवेगों की उत्तेजना के बाद उनके शयन से उत्पन्न मनः शान्ति उसका अभावात्मक पक्ष है जबकि इसके उपरांत उत्पन्न कलात्मक परिलेष उसका भावात्मक पक्ष है। विरेचन के नीतिपरक अर्थ में मनोविकारों की उत्तेजना द्वारा विभिन्न अन्तर्वृतियों का समन्वय करते हुए मन की शांति और परिष्कृति पर बल दिया गया है।

८) 'विरेचन सिद्धांत' अपनी समस्त शक्ति तथा सीमाओं सहित पाश्चात्य काव्य शास्त्र को अरस्तू की महत्त्वपूर्ण देन है।

९) विरेचन के माध्यम से अरस्तू द्वारा अनेक परवर्ती आलोचकों, काव्यशास्त्रियों का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

९.१.५ बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न १ अरस्तू ने विभिन्न विषयों पर आधारित लगभग कितने ग्रंथों की रचना की थी ?

क) ४०० ख) ३०० ग) ४२६ घ) ३५०

उत्तर ४०० के आसपास

प्रश्न २ साहित्यशास्त्र या काव्यशास्त्र पर आधारित अरस्तू ने कितने ग्रंथ लिखे थे ?

क) एक ख) दो ग) चार घ) छहः

उत्तर दो ग्रंथ

प्रश्न ४ विरेचन के लिए किस तरह के नाटकों की मीमांसा हुई है ?

क) कल्पनात्मक ख) सुखान्त ग) दुखान्त घ) नीतिपरक

उत्तर दुःखान्त

१.१.६ लघुत्तरीय प्रश्न

प्रश्न ३ अरस्तू ने प्लेटो द्वारा काव्य पर लगाए किन आक्षेपों - आरोपों का खंडन किया ?
उत्तर प्लेटो का आरोप था कि कविता हमारी कुंठित वासनाओं, मनोविकारों का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण और सिंचन करती है। अतः वह त्याज्य है।

प्रश्न ४ अरस्तू ने त्रासदी के विवेचन में किन भावों का विरेचन किया है ?
उत्तर अरस्तू ने त्रासदी के विवेचन में भय एवं करुणा भाव का विवेचन किया है।

प्रश्न ५ विरेचन से आप क्या समझते हैं ?
उत्तर विरेचन शब्द मूलतः 'Kathorsis' (कैथारसिस) का हिन्दी अनुवाद है जिसका अर्थ है - रेचन, परिशुद्धि या निष्काषन। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विरेचन के द्वारा मनोविकारों को दूर करने की बात सामने आई है।

प्रश्न ६ अरस्तू के अनुसार कथानक के तीन प्रमुख अंग कौन-कौन से हैं ?
उत्तर १) महान त्रुटि २) स्थिति - विपर्यय ३) अभिज्ञान

१.१.७ संभावित दीर्घोत्तरी प्रश्न

१. अरस्तू के विरेचन संबंधी सिद्धांत से आप क्या समझते हैं? उसकी विस्तृत विवेचना कीजिए।
२. अरस्तू के विरेचन सिद्धांत की विस्तृत विवेचना कीजिए।
३. अरस्तू द्वारा प्रतिपादित विरेचन सिद्धांत में अनुकरण का क्या महत्व है ? स्पष्ट कीजिए।
४. अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त का त्रासदी व विरेचन सिद्धांत में क्या भूमिका है ? स्पष्ट कीजिए।

निर्देश : सभी प्रश्नों का उत्तर विषय से संबंधित प्रस्तावना, विषय - विस्तार और सारांश से प्राप्त करें।

१.८ अध्ययन हेतू सहायक पुस्तकें

१. काव्य चिंतन की पश्चिमी परंपरा - डॉ. निर्मला जैन
२. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, इतिहास, सिद्धांत और वाद - डॉ. भगीरथ मिश्र
३. पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास - डॉ. तारकनाथ बाली
४. काव्यशास्त्र - डॉ. भगीरथ मिश्र
५. समीक्षा के विविध आयाम - डॉ. रामजी तिवारी

❖❖❖❖

इकाई-१०

लोंजाइनस : उदात्त संबंधी मान्यताएँ

इकाई की रूपरेखा :

१०.१ इकाई का उद्‌देश्य

१०.२ लोंजाइनस के काव्य में उदात्त संबंधी मान्यताओं की प्रस्तावना

१०.३ विषय का विस्तृत अध्ययन

१०.४ सारांश

१०.५ बहुविकल्पीय प्रश्न

१०.६ लघूत्तरीय प्रश्न

१०.७ संभावित दीर्घोत्तरी प्रश्न

१०.८ अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

१०.१ इकाई का उद्‌देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्‌देश्य विद्यार्थियों को लोंजाइनस के काव्य में उदात्त संबंधी मान्यताओं का विस्तृत विवेचन करना है। लोंजाइनस यूनान के महान विचारक काव्यशास्त्री हैं। इन्होंने महान सर्वोत्कृष्ट साहित्य के लिए उदात्त तत्व का होना अनिवार्य बताया है। इस संबंध में समग्र जानकारी विद्‌यार्थियों को प्रदान करना ही इस इकाई का लक्ष्य है।

१०.२ लोंजाइनस के काव्य में उदात्त संबंधी मान्यताओं की प्रस्तावना

लोंजाइनस यूनान के महान दार्शनिक, विचारक और काव्यशास्त्री थे। कुछ विद्‌वानों के अनुसार लोंजाइनस का काल ईसा की तीसरी शती माना जाता है तथा कुछ इन्हें ईसा की प्रथम शती का आलोचक मानते हैं। उनकी कृति 'पेरिइप्सुस' काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। जिस प्रकार कुंतक का 'वक्रोक्तिजीवितम्' सैकड़ों वर्षो तक विस्मृति के गर्भ में पड़ा रहा, उसी तरह 'पेरिइप्सुस' भी सैकड़ों वर्षों तक अज्ञात पड़ा रहा। सन १५५४ ई. में. पहली बार इतालवी विद्‌वान रोबेरतेल्लो ने उसे प्रकाशित किया था। यह छोटे-छोटे ४४ अध्यायों में विभक्त साठ पृष्ठों की रचना है जिसका २/३ भाग ही उपलब्ध है। 'इप्सुस' का तात्पर्य औदात्य, ऊँचाई से है जिसके माध्यम से उनके उदात्त संबंधी मान्यताओं का स्पष्टीकरण होता है।

लोंजाइनस के कालखंड में कवि या साहित्यकार अपनी कृतियों में नवीनता और चमत्कार प्रदर्शन करने में डूबे हुए थे। अतः उस काव्यगत प्रवृत्तियों के विरोध में इन्होंने एक नए तत्व 'उदात्त तत्व' का प्रतिपादन किया, जिसकी विस्तृत विवेचना इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'पेरिइप्सुस' में की है। इसके प्रथम भाग में उदात्त शैली और द्वितीय भाग मे कला के आधारभूत तत्वों की विस्तृत विवेचना है। विद्वानों ने भी यह स्वीकार किया है कि इसका वर्ण्य विषय काव्य की उदात्त भावना नहीं है, अपितु इसमें उदात्त शैली के आधारभूत तत्वों की व्याख्या है। डॉ. नगेन्द्र का मानना है - "इसमें उदात्त कला की प्रेरक भावनाओं, धारणाओं का विश्लेषण नहीं, वरन उदात्त शैली के आधार तत्व की विवेचना है।" लोंजाइनस का मानना था कि भावों - विचारों की उदात्तता ही साहित्य-सृजन के लिए प्रेरित करती है जिससे पाठक, दर्शक और श्रोता प्रभावित होते हैं। इन्होंने उत्कृष्ट साहित्य के लिए उदात्त मनोभाव, उदात्त विषय, उदात्त अलंकार योजना, उत्कृष्ट भाषा शैली, एवं गरिमामय रचना विधान को परम आवश्यक माना है।

१०.३ विषय का विस्तृत अध्ययन

लोंजाइनस से पूर्ववर्ती कवियों-साहित्यकारों चाहे वे सुधारवादी एरिस्टोफेनिस हों या मनोरंजन के हिमायती होमर हों, सभी का साहित्य (गद्य-काव्य दोनों) अनुनय पर आधारित था। इनका उद्देश्य जनमानस को शिक्षा प्रदान करना, आनंद प्रदान करना, मनोरंजन करना, आह्लादित करना, प्रोत्साहित करना या बाध्य करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु चमत्कार, आडंबरयुक्त भाषा शैली, अतिशय आलंकारिकता को अधिक महत्त्व दिया जाता था। उनके लिए काव्य का भाव तत्व अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं था। लोंजाइनस काव्य के इन रूपों से सहमत नहीं थे इसलिए उन्होंने काव्य में भाव-तत्व को प्रधानता दी।

उदात्त तत्व : लोंजाइनस ने इस तथ्य की पुष्टि की, कि उदात्तता एक ऐसा गुण है जो अन्य छोटी-छोटी त्रुटियों के रहते हुए भी साहित्य को सच्चे अर्थों में प्रभावपूर्ण बना देता है। उन्होंने उदात्त को काव्य में सर्वोपरि माना। उदात्त तत्व के संबंध में लोंजाइनस ने कहा है कि - "Sublimity is always an eminence and excellence in language" अर्थात अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कर्ष ही औदात्य है। लोंजाइनस ने औदात्य तत्व की प्रतिष्ठा करके काव्य को गरिमामय एवं भव्य बनाने का सफल प्रयास किया है। उनकी औदात्य संबंधी अवधारणा इतनी विशद-व्यापक है कि यह साहित्येतर इतिहास, दर्शन, धर्म आदि विषयों को समाविष्ट कर लेती है। उनके औदात्य तत्व में सिर्फ उदात्त शैली ही नहीं है अपितु उदात्त विषय वस्तु, भाव-विचार, भाषा-शैली, समुचित अलंकार योजना सब कुछ शामिल है। लोंजाइनस के अनुसार औदात्य वाणी का उत्कर्ष, क्रान्ति और वैशिष्ट्य है जिसके कारण महान कवियों, इतिहासकारों, दार्शनिकों को प्रतिष्ठा, सम्मान व ख्याति प्राप्त हुई है क्योंकि इसी से उनकी कृतियाँ गरिमामय बनी हैं और उनका प्रभाव युग-युगान्तर तक प्रतिष्ठित हो सका है। औदात्य सिद्धांत के स्वरूप विवेचन के तीन पक्ष माने जाते हैं -

१) अंतरंग तत्व
२) बहिरंग तत्व
३) विरोधी तत्व

१) अंतरंग तत्व :

अन्तरंग तत्व को भाव पक्ष भी कहा जाता है। लोंजाइनस का मत था कि किसी काव्य या रचना को महान होने के लिए यह आवश्यक है कि कवि या साहित्यकार के भीतर महान अवधारणाएँ और उच्च विचार विद्‌यमान हों। उसकी कल्पना शक्ति उच्च व व्यापक हो, तभी वह मानव प्रकृतिगत क्षुद्रताओं से ऊपर उठ सकता है। यदि साहित्यकार की अवधारणाएँ, विचार-भाव अस्पष्ट, निम्नस्तरीय है तो निश्चय ही वह महान कृति की रचनाएँ करने में असफल रहेगा।

यदि विषय उच्च कोटि का है, गरिमामय है तो कृति के उच्च स्तरीय होने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि कवि को आदर्श कवियों का अनुशीलन करना चाहिए। विषय को गरिमापूर्ण बनाने के लिए उसको विस्तृत और गतिमय रूप देना आवश्यक है। गरिमामय विषय सामान्य न होकर असाधारण होते हैं जिसकी प्रेरणा हमें सृष्टि की विराटता, असाधारणता से मिलती है। प्रकृति के विराट स्वरूप व रहस्य को देखकर हमारे मन में उदात्त भाव और विचार जागृत हो जाते हैं। जब वे छोटी-छोटी नदियों के स्थान पर नील या डेन्युष नदी और इनसे भी अधिक सागर को काव्य के विषय के लिए अधिक उपयुक्त मानते हैं तो इसी तथ्य की पुष्टि होती है। उनका मानना था कि काव्य का विषय ऐसा होना चाहिए, जिसका पाठक श्रोता पर उत्कट एवं स्थायी अमिट प्रभाव पड़े; इसलिए उत्कृष्ट काव्य के लिए विशद, विस्तृत, व्यापक, गरिमामय विषय वस्तु के साथ-साथ उसमें असाधारण शक्ति, वेग, अलौकिक ऐश्वर्य और उत्कट प्रभाव क्षमता होनी ही चाहिए। इसलिए उन्होंने प्रतिभावान, महान कवियों के अनुशीलन पर बल दिया। लोंजाइनस प्राचीन कवियों का अंधानुकरण नहीं चाहते थे अपितु वे चाहते थे कि नए कवि उनसे संस्कार और शक्ति ग्रहण करें तथा प्राचीन कृतियों की आत्मा ग्रहण करें।

लोंजाइनस महान विचारों की उद्‌भावना, गरिमामय उदात्त विषयवस्तु के साथ ही साथ भावों की उत्कटता को भी अति आवश्यक मानते हैं। उनका मानना है कि आवेग की दो शाखाएँ होती हैं - पहला भव्य आवेग और दूसरा निम्न आवेग।

जब भव्य आवेग मनुष्य के अंतःकरण में क्रियाशील होती है तो उसकी आत्मा का उत्कर्ष होता है, उदात्तता आती है, ह्रदय हर्ष-उल्लास-आदर - उर्जा -शौर्य - ओरज -ओण - रति इत्यादि भावों से भर उठता है। आत्मा स्वतः ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है; तो वहीं निम्न आवेग से ह्रदय में दया, शोक, भय, घृणा इत्यादि भाव संचारित होता है जो आत्मा को संकुचित बनाता है। इन निम्न आवेगों के परिणामस्वरूप आत्मा का अपकर्ष होता है। लोंजाइनस काव्य में उदात्त तत्व के लिए भव्य आवेग, अपितु प्रेरणा प्रस्तुत भव्य आवेग को अनिवार्य तत्व मानते हैं।

२) बहिरंग तत्व :

बहिरंग तत्व का संबंध काव्य में उदात्त तत्व के लिए उत्कृष्ट कलात्मक अभिव्यक्ति अर्थात् समुचित अलंकार- योजना परिष्कृत उत्कृष्ट भाषा और उत्कृष्ट गरिमामय रचना विधान से है। लोंजाइनस इन्हें 'कला की उपज' मानते हुए कहते हैं कि कलात्मक अभिव्यक्ति प्राकृतिक रूप से, व्यवस्थित रूप से, नियमतः अपना कार्य करती रहती है। इसमें सिद्‌धि पाने के लिए कवि में नैसर्गिक शक्ति तो होती है, मगर वह कला के ज्ञान और अभ्यास में इसमें सिद्‌धि प्राप्त करता है।

समुचित अलंकार-योजना पर अपना मत प्रतिपादित करते हुए लोंजाइनस की मान्यता है कि अलंकार का संबंध मनोवैज्ञानिक प्रभावों को व्यक्त करने के निमित्त होना चाहिए। काव्य में इसकी उपयोगिता तभी सिद्ध होती है जब इसका ऐसा प्रयोग हो कि पाठकों का ध्यान अलंकार की ओर न जाकर केवल भाव में रम जाए। जिस अलंकार योजना में पाठको के ह्रदय में भाव जागृत करने, उन्हें प्रभावित, उत्तेजित करने की सहज क्षमता हो, वही अलंकार योजना श्रेष्ठ है। इसका प्रयोग चमत्कार प्रदर्शन हेतु नहीं, अपितु भावों के उत्कर्ष हेतु होना चाहिए। कवि के अंतस्थल में स्वतःस्फुर्त अलंकार उनके कलात्मक बोध के प्रतीक हैं और कवि की कलात्मक अभिव्यक्ति के साधन हैं।

अलंकारों के प्रयोग के संबंध में लोंजाइनस ने स्पष्ट किया है कि इनका प्रयोग परिस्थिति, परिवेश, उद्देश्य के अनुरुप होना चाहिए। साथ ही स्थान, काल, अभिप्राय, रीतिरिवाज, वातावरण के अनुकूल, पात्रानुरुप, प्रसंगानुरूप होना चाहिए। इन्होंने वक्रोक्ति की कुछ बातों कि विलक्षण, काव्य रचना, काल-लिंग-वचन में बदलाव, समासोक्ति के साथ-साथ रूपक, उपमा आदि अलंकारों की शब्दावली को उदात्त के अंतर्गत रखा है तथा पुनरावृत्ति, प्रश्नालंकार, विस्तारणा, शपथोक्ति, विपर्यय, व्यतिक्रम, छिन्न वाक्य, प्रत्यक्षीकरण, संचयन, सार, पर्यायोक्ति रूप परिवर्तन आदि की विवेचना की है।

उत्कृष्ट भाषा के संदर्भ में लोंजाइनस का स्पष्ट मानना है कि विचार एवं पद-विन्यास में अन्योन्याश्रित संबंध है। ये दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। अतः उदात्त विचारों की अभिव्यक्ति के लिए गरिमामयी भाषा का होना अनिवार्य है। क्षुद्र या साधारण शब्दावली, उदात्त विचारों की अभिव्यक्ति कदापि नहीं कर सकती है। भाषा की गरिमा का मूल आधार शब्द-सौन्दर्य, प्रभावोत्पादक शब्दों का चयन, पदों या वाक्यांशों का विवेकपूर्ण उपयुक्त चयन है। गरिमामयी भाष्य में सुंदर शब्दावली के साथ भाव प्रवणता, प्रवाहपूर्णता, रूपकों का सीमित प्रयोग, उपमा एवं अत्युक्तियों का यथोचित प्रयोग गरिमा, ओज, शक्ति, उपयुक्तता, विषयानुकूलता आदि का होना आवश्यक है। भाषा की सार्थकता औदात्य को उत्पन्न करने में है। लोंजाइनस ने यह भी स्पष्ट कहा है कि हर जगह गरिमामयी भाषा का प्रयोग उचित नहीं है। उनका प्रयोग प्रसंग के अनुरूप ही होना चाहिए। लोंजाइनस शब्द बिन्यास के दोनों पक्षों (क्रमशः ध्वनि पक्ष और अर्थ पक्ष) पर समुचित ध्यान देने की बात कहते हैं क्योंकि अनुकूल ध्वनि के शब्दों का चयन काव्य में मोहकता - आकर्षण की सृष्टि करता है। डॉ नगेन्द्र के शब्दों में "सुंदर शब्द ही वास्तव में विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं।"

गरिमामय रचना विधान हेतु विचारों, शब्दों, कार्यों, सुंदरता एवं राग के अनेक रूपों का संगुंफन होता है। लोंजाइनस की दृष्टि में रचना का प्राणतत्व है सामंजस्य, जो कि उदात्त शैली के लिए परम आवश्यक है। उन्होंने शैलीगत रचना विधान की तुलना मनुष्य की शारीरिक रचना से की है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों का अलग-अलग रहने पर उनका कोई महत्त्व नहीं होता। सभी अंग मिलकर ही संपूर्ण शरीर की रचना करते हैं उन्हें प्राणवान बनाते हैं, ठीक उसी प्रकार रचना-विधान के सभी अवयव जब एकान्वित हो जाते हैं तो उदात्त शैली में उदात्त काव्य की रचना होती है। बांसुरी की मधुर तान की भाँति रचना का सामंजस्य हमारे मन में विभिन्न भावों को उद्वेलित करता है। भाषा में सामंजस्य स्थापित करने के लिए छन्द विधान का आविष्कार किया गया। गरिमामय रचना-विधान के संदर्भ में लोंजाइनस का कथन है कि वही काव्य सृष्टि उत्कृष्ट है जो सदैव अपने पाठकों को एक बार नहीं, अपितु बार-बार प्रभावित,

उद्वेलित, उत्तेजित करे, चाहे वह किसी भी युग में क्यों न पढ़ी जाए / लोंजाइनस के अनुसार - "Harmony is an instrument which has a natural power, not only to win and delight, but also in a remarkable degree to exate the soul and sway the heart of man."

इस प्रकार, लोंजाइनस के उदात्त संबंधी मान्यता के अनुसार काव्य में औदात्य का विधान तभी संभव है जब उसमें उदात्त विचार, उदात्त विषयवस्तु, उदात्त भावावेग, समुचित अलंकार योजना, उत्कृष्ट भाषा और गरिमामय रचना विधान का सामंजस्य हो उनका साधन के रूप में प्रयोग किया गया हो, क्योंकि साध्य तो औदात्य ही है। कल्पना तत्व पर अपनी बात कहते हुए वे कहते हैं कि कल्पना वह शक्ति है जो पहले कवि को मानसिक रूप से वर्ण्यविषय का साक्षात्कार करा देती है और फिर उसकी सहायता से वह भाषा में चित्रात्मकता प्रस्तुत करती है जिससे वह श्रोता या पाठक के सम्मुख जीवन्त व प्रत्यक्ष हो उठे। वे बिम्ब की प्रेरणा शक्ति कल्पना को ही स्वीकार करते हैं। उनके विचार से काव्य में कल्पना का औचित्यपूर्ण उपयोग वांछनीय है। कवि अपनी अनुभूतियों को इन्हीं के माध्यम से संप्रेषित करता है।

३) विरोधी तत्व :

काव्य को उदात्त बनाने के लिए लोंजाइनस इसके विरोधी तत्वों की विवेचना भी करते हैं। ये तत्व काव्य को क्षुद्र अर्थ प्रदान करने के साथ ही उन्हें संकीर्ण, हीन, उपकारी और कुत्सित बनाते हैं। वे शब्दाडंबर, चंचल पद-गुंफन, असंयत वाग्विस्तार, भावाडंबर, चमत्कार प्रयोग, अत्यंत संक्षिप्तता, अनावश्यक साज-सज्जा, अनावश्यक संगीत -लय आदि के प्रयोग को उदात्त का अपरोधक तत्व मानते हैं। इनके प्रयोग से कोई भी रचना उदात्त होने के बजाय निकृष्ट बन जाती है। लय-संगीत का आधिक्य, काव्य को आवश्यकता से अधिक सुकुमार, कृत्रिम, बनावटी व एकरस बना देता है। लोंजाइनस ने काव्य ग्रंथों में शब्दाडम्बर, भावाडंबर बालेयता था बचकानापना, विषय का अनावश्यक विस्तार और नवीनता दिखाने के मुद्दे को स्पष्ट करते हुए उन्हे बिल्कुल वर्जित माना है।

इस प्रकार, अंततः कहा जा सकता है कि ग्रीक साहित्य में अरस्तू ने कला को अनुकृति मानते हुए कवि के व्यक्तिगत व्यक्तित्व की भले ही उपेक्षा कर दी हो, उन्हें महत्त्वपूर्ण नहीं माना हो, परन्तु लोंजाइनस ने कवि या कलाकार के निजी व्यक्तित्व को महत्व एवं बरीयता देते हुए उदात्त काव्य को उदात्त व्यक्तित्व सम्बद्ध किया। उन्होंने कवि के व्यक्तित्व को कविता की भव्यता से संबद्ध कर काव्य चिन्तन की दिशा ही बदल दी, इसके साथ ही साथ औदात्य के लिए अनिवार्य तत्वों -विचार - भाव - शैली - अलंकार - भाषा - रचना विधान आदि तत्वों की विस्तृत विवेचना की तथा इन्हें काव्य में समाविष्ट करने पर बल दिया। इन्होंने उदात्त के बाधक तत्वों को भी विस्तार से व्याख्यायित किया और इन्हें त्याज्य कहा। लोंजाइनस ने भावावेगों के उद्वेलन एवं उनसे उत्पन्न आनंद की बात को स्वीकारते हुए भारतीय काव्यशास्त्र के रस सिद्धान्त को पुष्टि प्रदान की।

पाश्चात्य दार्शनिक, विचारक प्लेटो और अरस्तू की वैचारिक दृष्टि में काव्य-कला का मुख्य उद्देश्य क्रमशः जीवन को उत्प्रेरित करने वाली उपदेशात्मकता और आनंद को माना गया है, तो वहीं लोंजाइनस की दृष्टि में आनंदानुभूति को ही कला की मूल शक्ति माना गया है। इन्होंने उपदेशात्मकता को कोई स्थान नहीं दिया। लोंजाइनस का मुख्य उद्देश्य कला के

प्रयोजन की श्रेष्ठता की खोज को प्रतिपादित करना है। उनके विचार से कल्पना के औचित्यपूर्ण उपयोग से कवि अपनी अनुभूतियों को पाठकों तक संप्रेषित करता है। उत्कृष्ट भाषिक संरचना, उत्कृष्ट - उपयुक्त अलंकार, छंद-लय आदि का सुन्दर-उपयुक्त समन्वय काव्य को गरिमा प्रदान करते हैं। लोंजाइनस यह स्वीकार करते हैं कि वही साहित्य उत्कृष्ट है जो पाठकों को सदैव सार्वदेशिक, सार्वकालिक आनंद प्रदान कर सके।

१०.४ सारांश

लोंजाइनस के उदात्त तत्व को, उच्च विचारों और उत्कृष्ट भावों की विशिष्ट, प्रभावशाली और उत्कृष्ट अभिव्यक्ति में देखा जा सकता है। इनके उदात्त तत्व का सारांश निम्न बिंदुओं में समाहित है -

१. लोंजाइनस के विचार अत्यन्त मौलिक, सार्वभौमिक, सार्वकालिक और चिरन्तन हैं।

२. औदात्य के स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए उनका मानना है कि यह अभिव्यक्ति की उच्चता और उत्कृष्टता का नाम है जो अपने पाठकों-श्रोताओं के तर्क का समाधान नहीं करती, अपितु उन्हें अभियूत कर लेती है क्योंकि रचना की उदात्तता में प्रबल्य शक्ति होती है।

३. लोंजाइनस ने उदात्त मनोभाव के अंतर्गत उत्कृष्ट संवेगों में हर्ष, उल्लास, शौर्य, विस्मय, ओज आदि गुणों के साथ-साथ उदात्त विषय वस्तु को भी अनिवार्य माना है क्योंकि विषय और चरित्र उच्च होने पर काव्य उदात्त हो जाती है।

४. उदात्त मनोभाव, उदात्त विषय के साथ ही लोंजाइनस ने उदात्त-समुचित-प्रसंगानुसार अलंकारों का प्रयोग भी आवश्यक माना है। साथ ही उत्कृष्ट भाषा शैली में सुंदर शब्द चयन, मुहावरे, छंद-लय आदि का यथोचित प्रयोग काव्य को उदात्त बनाता है।

५. लोंजाइनस के अनुसार उदात्त काव्य के लिए गरिमामय रचना-विधान आवश्यक है जिसमें उदात्त विषय वस्तुओं, घटनाओं, विचारों, कार्यो एवं दृश्य विधानों का समुचित संगुफन होता है।

६. लोंजाइनस के अनुसार काव्य में कल्पना आवश्यक है जिसके औचित्यपूर्ण उपयोग द्वारा कवि अपनी अनुभूतियों को पाठकों को संप्रेषित करता हैं।

७. लोंजाइनस ने आनंदानुभूति को ही कला की मूल शक्ति माना है। उनके अनुसार वही साहित्य उत्कृष्ट साहित्य है जो पाठकों श्रोताओं को हर युग में, हर काल में सदैव आनंद प्रदान करे।

८. इन्होंने उत्कृष्ट काव्य-रचना के लिए शब्दाडंबर, भावाडंबर, अनावश्यक विस्तार वर्णन अत्यंत संक्षिप्तता, बचकानापन, कुत्सित-क्षुद्र अर्थ वाले शब्द, अनावश्यक साज-सज्जा, संगीत-लय का आधिक्य, अभिव्यक्ति की क्षुद्रता आधि का निषेध किया, त्याज्य माना, विरोधी तत्व माना।

९. लोंजाइनस के औदात्य सम्बन्धी सिद्धान्त से परवर्ती विचारक, ड्राइडन, एडिसन, पोप, विलियम वर्ड्सवर्थ, ब्रेडले आदि काफी प्रभावित थे। पूर्ववर्ती यूनानी काव्य चिंतकों की तुलना में लोंजाइनस का प्रदेय महत्त्वपूर्ण है।

munotes.in

१०. लोंजाइनस के 'औदात्य' का सिद्धांत पाश्चात्य समीक्षा, यूनानी समीक्षा की देन है जिसको परवर्ती आलाचकों, विचारकों, चिंतको ने भी स्वीकार किया है। उदात्तता की अवधारणा अत्यन्त व्यापक और गहन है क्योंकि इसका अभिप्राय अत्यंत विस्तृत, असाधारण शक्ति और वेग, अलौकिक ऐश्वर्य, सार्वदेशिक, सार्वकालिक और मंत्रमुग्ध करने वाली, उत्कृष्ट प्रभाव-क्षमता आदि गुणों की युक्तता से है।

१०.५ बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न १ उदात्त संबंधी मान्यताएँ किस चिंतक की देन है ?
क) अरस्तू ख) प्लेटो ग) लोंजाइनस घ) ड्राइडन
उत्तर लोंजाइनस

प्रश्न २ 'पेरिइप्सुस' किसकी रचना है ?
क) ड्राइडन ख) वर्ड्सवर्थ
ग) आई.ए. रिचर्ड घ) लोंजाइनस
उत्तर लोंजाइनस

प्रश्न ३ लोंजाइनस की कृति 'पेरिइप्सुस' के कितने भाग उपलब्ध है ?
क) २/३ ख) १/३ ग) १/२ घ) ४/३
उत्तर २/३ भाग उपलब्ध है।

प्रश्न ४ 'पेरिइप्सुस' को अंग्रेजी में किस नाम से प्रकाशित किया गया था ?
क) दि रिपब्लिक ख) ऑन दी सब्लाइम
ग) दि लाज घ) एस्थेटिक
उत्तर ऑन दी सब्लाइम

प्रश्न ५ लोंजाइनस ने काव्य - कला की मूल शक्ति किसे माना ?
क) उपदेशात्मकता ख) आनंदानुभूति
ग) चमत्कार दर्शन घ) आदर्श की स्थापना
उत्तर आनंदानुभूति

प्रश्न ६ लोंजाइनस का संबंध किस देश से है ?
क) रोम ख) यूनान ग) इटली घ) स्पेन
उत्तर यूनान

प्रश्न ७ औदात्य के बाधक तत्व क्या हैं ?
क) भाषा की अव्यवस्था ख) भावाडंबर
ग) शब्दाडंबर घ) इनमें से सभी
उत्तर इनमें से सभी

munotes.in

प्रश्न ८ लोंजाइनस ने उदात्त के लिए किन गुणों को आवश्यक बताया ?
क) महान विचार ख) भावों का उदात्त चित्रण
ग) उत्कृष्ट भाषा घ) इनमें से सभी
उत्तर इनमें से सभी

प्रश्न ९ लोंजाइनस को उदात्तवाद कब प्रकाश में आया ?
क) १५५२ ख) १५५३ ग) १५५४ घ) १५५५
उत्तर सन् १५५४ में

प्रश्न १० लोंजाइनस ने किसे सर्वापरि स्थान दिया ?
क) विरेचन ख) अनुकरण ग) उदात्त घ) अभिव्यंजना
उत्तर उदात्त

प्रश्न ११ यह कथन किसका है ? - "यह संभव नहीं है कि जीवन भर क्षुद्र उद्देश्यों और विचारों में ग्रस्त व्यक्ति कोई स्तुत्य एवं अमर रचना कर सके। महान शब्द उन्हीं के मुख से निःसृत होते हैं जिनके विचार गंभीर और गहन हों।"
क) अरस्तू ख) लोंजाइनस ग) डायानोसियस घ) एरिस्टोफेनिस
उत्तर लोंजाइनस

प्रश्न १२ लोंजाइनस उदात्त साहित्य के लिए साहित्यकार में किन गुणों को आवश्यक मानते हैं ?
क) उदात्त - प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ख) बालेयता
ग) विषय से अधिक लय के प्रति आकर्षण घ) सिर्फ भाषा शेली में दक्षता
उत्तर उदात्त - प्रतिभाशाली व्यक्तित्व

१०.६ लघूत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १ लोंजाइनस का संबंध विश्व के किस देश से है ?
उत्तर युनान से।

प्रश्न २ लोंजाइनस द्वारा रचित पुस्तक कब प्रकाश में आई ?
उत्तर सन् १५५४ में प्रकाश में आई।

प्रश्न ३ लोंजाइनस ने लेखक के व्यक्तित्व के विषय में क्या कहा था ?
उत्तर लेखक का व्यक्तित्व जितना अधिक उदात्त होगा, उसकी रचना भी उतनी ही उदात्त होगी।

प्रश्न ४ लोंजाइनस के अनुसार श्रेष्ठ रचना का विषय कैसा होना चाहिए ?
उत्तर श्रेष्ठ रचना का विषय उदात्त, विस्तृत और व्यापक होना चाहिए।

प्रश्न ५ लोंजाइनस ने औदात्य के लिए किन पाँच तत्वों को आवश्यक माना ?
उत्तर लोंजाइनस ने उदात्त विचार, उदात्त भावों का चित्रण, अलंकार नियोजन, उत्कृष्ट भाषा, गरिमामय रचना विधान को उदात्त काव्य के लिए आवश्यक माना।

प्रश्न ६ लोंजाइनस के अनुसार उदात्त के विरोधी तत्व क्या है ?

उत्तर लोंजाइनस के अनुसार उदात्त के विरोधी तत्व शब्दाडंबर, बालेयता या बचकानापन, भावाडंबर, वर्णन का अनावश्यक विस्तार, अभिव्यक्ति की क्षुद्रता, अत्यंत संक्षिप्तता, अनावश्यक, साज-सज्जा - संगीत-लय आदि का प्रयोग, क्षुद्र अर्थवाले शब्दों का प्रयोग, असंयत चंचल पद गुंफन आदि हैं।

प्रश्न ७ 'कल्पना' के संदर्भ में लोंजाइनस का क्या मानना है ?

उत्तर लोंजाइनस कल्पना को ही बिम्ब-निर्माण की शक्ति मानते हैं और कहते हैं कि कल्पना वह शक्ति है जो पहले कवि की मानसिक रूप में वर्ण्य विषय का साक्षात्कार करवाती है और उसकी सहायता से कवि, भाषा में चित्रात्मकता द्वारा वर्ण्य-विषय को इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि वह पाठकों के मनः मस्तिष्क में जीवंत हो उठे।

प्रश्न ८ लोंजाइनस के सिद्धांत से कौन-कौन से विद्वान प्रभावित थे ?

उत्तर लोंजाइनस के सिद्धांत से ब्रेडले, ड्राइडन, एडिसन, पोप वडर्सवर्थ आदि प्रभावित थे।

प्रश्न ९ लोंजाइनस का पूरा नाम क्या था ?

उत्तर लोंजाइनस का पूरा नाम डाईनोसियस लोंजाइनस था।

प्रश्न १० लोंजाइनस उदात्तता के संदर्भ में क्या विचार रखते थे ?

उत्तर लोंजाइनस ने उदात्तता के संदर्भ में यह स्वीकार किया कि उदात्तता एक ऐसा गुण है जो अन्य छोटी-छोटी त्रुटियों के रहते हुए भी साहित्य को सच्चे अर्थों में प्रभावपूर्ण बना देता है।

१०.७ संभावित दीर्घोत्तरी प्रश्न

१. लोंजाइनस की उदात्त की अवधारणा का महत्त्व लिखिए।

२. उदात्त तत्व क्या है? लोंजाइनस ने इसे काव्य में महत्त्व क्यों दिया? सविस्तर स्पष्ट कीजिए।

३. लोंजाइनस के काव्य संबंधी उदात्त तत्व की विस्तृत विवेचना कीजिए।

४. लोंजाइनस की उदात्त संबंधी मान्यताओं पर प्रकाश डालिए।

५. पाश्चात्य काव्यशास्त्र में उदात्त की अवधारणा को प्रतिपादित करते हुए लोंजाइनस के योगदान का विश्लेषण कीजिए।

६. लोंजाइनस की उदात्त संबंधी अवधारणा का निरुपण कीजिए।

१०.८ अध्ययन हेतू सहायक पुस्तकें

इस इकाई के अंतर्गत प्लेटो अरस्तू और लोंजाइनस के काव्य संबंधी विचारों का गहनतम अध्ययन करने के लिए कुछ सहायक पुस्तकों के नाम दिए गए हैं।

munotes.in

१. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र - डॉ. निर्मला जैन

२. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र - देवेन्द्र नाथ शर्मा

३. पाश्चात्य काव्य के सिद्धांत - डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त

४. पाश्चात्य काव्य चिंतन - डॉ. करुणा शंकर उपाध्याय

५. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के प्रतिमान - डॉ. हरीश अरोड़ा

६. काव्य चिंतन की पश्चिमी परंपरा - डॉ. निर्मला जैन

७. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, इतिहास, सिद्धांत और वाद - डॉ. भगीरथ मिश्र

८. पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास - डॉ. तारकनाथ बाली

९. काव्यशास्त्र - डॉ. भगीरथ मिश्र

१०. समीक्षा के विविध आयाम - डॉ. रामजी तिवारी

❖❖❖❖

munotes.in